गीतामृत

बीसवीं सदी के प्रकाश में
मानव-संजीवन-शास्त्र

लेखक
श्री० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल
मंत्री, अर्थ तथा सूचना विभाग
संयुक्त प्रांत सरकार

हिन्द साहित्य प्रकाशन
अजमेर

हिन्द साहित्य प्रकाशन के लिए
नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर
द्वारा प्रकाशित

पहली बार : १९४७
मूल्य
साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस
दिल्ली ४५—४७

विषय-सूची

: १ :

नम्र निवेदन

प्रगतिशीलता के इस युग में ये पुराण-खण्डी बातें ? हजारों बरस पुराने गड़े मुर्दे उखाड़ने से लाभ ? जिस गीता पर भूरि-भूरि भाष्य भरे पड़े हैं, उस पर और भी चर्वित-चर्वण अथवा पिष्ट-पेषण करने की आवश्यकता ?

ये और ऐसे प्रश्न किये ही जायंगे। उन्हीं के उत्तर में अपनी सफाई और गीतामृत की कहानी के रूप में ही यह नम्र निवेदन है।

पहले अपनी की सफाई।

लिखी, अन्त:प्रेरणा के वशीभुत होकर, आत्म-कल्याण के लिए, स्वान्त: सुखाय। छपाई इस विकट विश्वास के साथ कि जो कृष्णाय है, वह जगद्धिताय भी अवश्यमेव होगा।

अब गीतामृत की कहानी।

धर्म-बुद्धि और सेवा-भाव मेरी पैत्रिक सम्पत्ति है। मेरे गुरुजनों में चाचाजी संध्या-प्राणायाम के अभ्यासी थे। पिताजी और ताऊजी भगवद्भजन के। उन्हीं के सत्सङ्ग के फलस्वरूप रामायण, भागवत और महाभारत पढ़े। गोपाल-सहस्रनाम और विष्णु-सहस्रनाम के पाठ किये। एकाध दिन, दिन में छप्पन बार हनूमान चालीसा कण्ठस्थ किया। द्वादश मन्त्र तथा राम-नाम का जाप भी किया गया और दो-एक दिन लक्ष-लक्ष राम-नाम का।

शैशव की चेतना की इस डाट को जीवन-प्रवाह न जाने कहां बहा

ले गया। इतना याद है, आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए शहर आया। वहा भारतीय विचारों के पुनरुत्थान का प्रसाद मिला। श्रीमती एनी बिसेंट की गीता पढी और पढे स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विवेकानद के व्यावहारिक वेदात संबधी विचार।

इस सिद्धात-शिक्षा के साथ ही प्रयोग की पढाई भी प्रारम्भ हुई। दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह-स्वरूप भारत में जो आदोलन हुआ, उसमें तथा श्रीमती बिसेंट और लोकमान्य तिलक के होमरूल आदोलन में भाग लेने लगा। अपने पास-पड़ोस के उग्र क्रातिकारियों से भी सम्पर्क हुआ।

परिणाम? स्वदेश के स्वाधीनता-सग्राम में राजनीतिक संन्यासी होकर सलग्न होने का युवक-सुलभ स्वप्न! उसे पूरा करने के लिए सैद्धातिक शिक्षा का यह क्रम स्थिर किया, इटरमीजिएट मे, संस्कृत, इतिहास और तर्क-शास्त्र। बी. ए. में इतिहास और अर्थ-शास्त्र। इसी अवधि में राजनीति और इतिहास का एम. ए०; हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-रत्न परीक्षा के सिलसिले में एम ए. में, अर्थ-शास्त्र तथा एल. एल. बी.। इस पोस्ट ग्रेजुएट शिक्षा के साथ-साथ मासिक "प्रभा" का सम्पादन भी चलता रहा और "साम्यवाद" नाम की पुस्तिका भी लिखी, जो प्रताप प्रेस कानपुर से प्रकाशित हुई। विश्वविद्यालय को छोड़ते ही फाइनल एल. एल. बी. की परीक्षा से दो दिन पहले पूर्ण रूप से प्रयाग के विश्व-विद्यालय में प्रवेश पाया—मासिक 'प्रभा" और दैनिक तथा साप्ताहिक "प्रताप" के मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक की हैसियत से। वहीं कानपुर में ही वहा की काग्रेस कमेटी के प्रधान की हैसियत से काग्रेस का कार्य करने का सुअवसर भी मिला।

कालान्तर में १६३२ के सत्याग्रह-सग्राम के संबंध में डेढ़ साल की सजा लेकर बाराबंकी जेल, एकात में पहुंचा। वहा नित्य-नियम से गीता-पाठ होने लगा। अठारहों अध्याय कण्ठस्थ हो गये।

दस बरस बाद। १६४२ के सितम्बर में आगरा सेण्ट्रल जेल में

नम्र निवेदन

जन्माष्टमी आई। सौ के लगभग साथियों ने उसे मनाया--सब-के-सब कर्मठ कर्मवीर, अनेक सुशिक्षित, कुशाग्र बुद्धि और विद्वान्। भगवान् कृष्ण और गीता के गुण-गान करने का पुण्य-कार्य मुझे सौंपा गया। उपस्थित वृन्द ने मेरे विचार पसंद किये। इस प्रोत्साहन से गीताभ्यास को पुनः प्रेरणा मिली।

सितम्बर के अंत में सेण्ट्रल जेल बरेली पहुंचाया गया। वहीं यह प्रेरणा फलवती हुई। स्वाधीनता-संग्राम के स्वर्गीय दिन थे--हमारे लिए इंटरव्यू करने, समाचार-पत्र पढ़ने और पत्र-पाने-भेजने की मनाही थी मुझे मिलाकर कुल दस साथी थे। गिरि-गुहाओं से भी अच्छा एकात था, क्योंकि यहा वन्य पशुओं का भी भय न था। माना हिंसक पशुओं से कहीं अधिक क्रूर जेल अधिकारी थे, परंतु उसका सामना करना तो इस तप का मुख्य भाग ही था। सौभाग्य से यहीं लोकमान्य तिलक का गीता-रहस्य मिल गया।

नवम्बर में, दूसरी बैरक में भेज दिये गए। वहा आठ साथी और थे। वहा पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान, इतिहास, समाज-शास्त्र, राजनीति, कर्त्तव्य-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि पर अनेक पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। अब तक इन विषयों पर जो सैकड़ों पुस्तकें पढ़ीं थीं उनकी याद भी हो आई।

गीता के ज्ञान-विज्ञान क प्रकाश में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की दरिद्रता पर दृष्टि गई। पाश्चात्य ज्ञान की जो मूर्त्ति मन-मंदिर में प्रतिष्ठित थी, उसके बच्चों की पाश्चात्य बुद्धि और विज्ञान-रूपी चूहों ने ही अस्त-व्यस्त करके उसे खण्डित कर दिया। वही मनोदशा हुई, जो स्वामी दयानंद की उस शिवरात्रि को हुई थी, जिसको उन्होंने चूहों को देव-देव महादेव के भोग को खाते और स्वच्छंद उनकी मूर्ति के सर पर दौड़ते देखा था, अर्थात् उसके विरुद्ध विद्रोह की भावना।

दीखा कि इस अर्थात् पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सभी सिद्धात प्रायः अधूरे अस्थायी, सापेक्ष और क्षण-भगुर हैं, जो कभी भी बदले जा सकते हैं। उनका एक भी मुख्य सिद्धात निर्विवाद नहीं, सभी विवादास्पद हैं। सभी को लेकर

वितण्डा का ताण्डव! वे मनुष्य की किसी भी आधार-भूत समस्या का पूर्ण तथा सन्तोषजनक हल नहीं कर सके। चारों ओर परस्पर विरोधी वादों और सिद्धान्तों का साम्राज्य है। सत्य के सम्पूर्ण रूप को जानने में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानों को उतनी ही सफलता मिली है, जितनी बहुश्रुत कहानी के चार अन्धों को हाथी का स्वरूप जानने में। एक ने उसकी पूंछ टटोल कर कहा, हाथी रस्सी जैसा है। दूसरे ने कान पकड़कर बताया सूप जैसा, तीसरा पैरों से हाथ लगाकर बोला, खम्भ जैसा। चौथे ने जिसके हाथ सूँड पड़ी, कहा, अजगर जैसा।

दिव्य-दृष्टि हीन अंधे पाश्चात्य ज्ञानी-विज्ञानी भी सत्य के समग्र विराट स्वरूप के सबंध में इसी कहानी को चरितार्थ कर रहे हैं। उसके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार चरणों मे से एक को टटोल कर पाश्चात्य चर्च कहता है कि बस जो कुछ है ईसाई धर्म है, इसके सिवा और कुछ नहीं। उसके दूसरे चरण अर्थ को टटोल कर शोषक वर्ग के अनन्य अर्थ-शास्त्री तथा शोषित वर्ग के मसीहा मार्क्स दोनों एक स्वर में बोल उठे 'सर्वं खल्विदं अर्थं'। बस, समस्त सत्य का आधार अर्थ ही है। काम-वासना के अर्थ में काम को लेकर विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के व्यास फ्रायड बोले-'अतः परतर नान्यत्‌किञ्चिदस्ति योरुपः" बस, काम-वासना के परे और कुछ नहीं। यही सबका प्रभाव है। इसीसे सब प्रवर्तित होते हैं। समस्त वासनाओं के अर्थ में काम को लेकर कार्लमार्क्स ने उसे ही विश्व के विकास का प्रमुख कारण प्रतिपादित किया। मोक्ष का संकुचित अर्थ लेकर प्रिंस क्रोपाटकिन, प्राउधन और बाकुनिन प्रभृति ने प्रचार किया कि स्वतंत्रता व अराजकता ही एकमात्र सत्य है। धर्म के विषय में लेनिन ने राय दी धर्म की रचना धूर्तों ने सर्व-साधारण को धोखा देने के लिए की है। शक्तिशाली सत्ताधारी धर्म की अफीम देकर सत्ताहीन सर्वसाधारण को सुला देते हैं, जिससे वे उनके विरुद्ध विद्रोह न करें। ठीक इसके विपरीत शक्ति-उपासक प्रकाण्ड जर्मन पण्डित निट्शे ने कहा, धर्म वह धोखे की टट्टी है, जिसे निर्बल सर्वसाधारण, सशक्त श्रेष्ठों की प्रगति की गति अवरुद्ध करने

के लिए, अपने बचाव के लिए बनाते हैं। डार्विन ने प्रकृति से प्रचुर प्रमाण संग्रह कर प्रतिपादित किया कि संसार संघर्ष-भूमि है। जो इस संघर्ष में में श्रेष्ठ सिद्ध होता है, वही जीवित रहता तथा फलता-फूलता है। उनसे कहीं अधिक प्रचुर प्रमाणों से उसी प्रकृति के प्रमाणों से प्रिंस कोपाटकिन ने सिद्ध किया कि जीवन का विकास और अस्तित्व उसकी समस्त उन्नति संघर्ष पर नहीं, सेवा-धर्म पर, पारस्परिक सहायता पर निर्भर है। इनके अनेक सिद्धातों के बिलकुल उल्टे परिणाम हुए। एक ही सामाजिक बंधन में सिद्धान्त के आधार पर हौब्स ने अनियन्त्रित राजतंत्र का, लौके ने प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतंत्र का और रूसो ने सीधे तथा पूर्ण लोकतंत्र का, सब लोगों द्वारा कानून बनाये जाने का समर्थन किया। स्वतंत्रता के पुजारी रूसो के सर्वजनेच्छा सिद्धात ने नात्सीवाद और मार्क्सवाद दोनो को जन्म दिया। सत्य के स्वरूप के संबंध मे सर जेम्स जीन की राय है कि वह गणितज्ञों का मस्तिष्क है। प्रोफेसर व्हाइट हैड का कहना है कि ऐन्द्रिक इकाई और बर्गसों की सम्मति है कि सत्य जीवन-प्रवाह या जीवन-शक्ति है और प्रोफेसर एडिङ्गटन के मतानुसार विश्व मन का तत्व। -

इस ज्ञान-विज्ञान का विहंगावलोकन। प्रारम्भ दो हजार बरस से, जिससे सैकड़ों वर्ष पहले भारत मे संपूर्ण सत्य के स्वरूप का निश्चय करके उसको व्यक्त किया जा चुका था। प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता अरस्तू इनके गणेशजी।

ईसा से पहले ३५० वर्ष से लेकर सन् १५४० तक उनका अखंड साम्राज्य रहा। कम-से-कम हजार वर्ष तक वे ही प्रमाण पूर्णतया निर्भ्रांत माने जाते थे। उनकी बातें अंतिम व निर्विवाद मानी जाती थीं। ज्ञान-विज्ञान के जितने ग्रंथ लिखे जाते "श्री अरस्तूयनम:" से लिखे जाते। यदि कोई इनके मत के विरुद्ध तनिक भी किमिदम् करता तो मारा जाता।

ब्रूनो, सर्वीटस, गैलीलियो आदि कई इनके विरुद्ध मत प्रकट करने पर बलि दे दिये गए। परन्तु इनके ज्ञान का यह हाल कि उनकी राय में रीछनी का बच्चा मास का गोंदा होता था। रीछनी उसे चाट-चाट

कर उसको बच्चे की शकल में ले आती थी और नेत्रादि समस्त इन्द्रिया बना देती थी। उनकी राय में यह पृथ्वी—सूर्य नहीं— समस्त विश्व का केन्द्र थी और विश्व में शेष सब ग्रहादि पूर्णवृत्त में उसके चारों ओर घूमते थे !! इस प्रकार के उदाहरणों से पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ भरा पड़ा है।

जिस विज्ञान को आज सर्वेसर्वा घोषित किया जाता है, उसे देखिये। भौतिक—विज्ञान और रसायन—विज्ञान अभी तक यह नही बता सके कि जिस भूत की नींव पर उनका भव्य-भवन खड़ा है और समस्त साम्राज्य स्थापित है, वह है क्या ? विज्ञानों का बादशाह भौतिक—विज्ञान इस भूत को खोजते-खोजते परमाणुओं के जिन 'अणीयान्' एलेक्ट्रन विद्युत्-कणादि के पास तक पहुचा है, वह मानवेन्द्रियों को मूढ विश्वासियों के भूत से भी अधिक अदृश्य है और उसकी कल्पना उससे कुछ भी कम कठिन या भयावह नहीं ! जीव-विज्ञान को जीव का कुछ पता नहीं। मनो-विज्ञान तो सबसे आगे बढ गया। उसने कहा, मन महाराज कहीं हैं ही नहीं, वे स्वयं मनगढ़ंत हैं ! एक दल कहता है, जो कुछ है, मैटर है, मन मैटर का चबच्चामात्र है और दूसरे का दावा कि मन -के सिवा कुछ नहीं, मैटर मन की मानस-सृष्टि है। गरज यह कि न मैटर है, न माइण्ड ! इस पर एक मसखरे ने ठीक ही फबती कसी। कहा कि अगर ऐसा है, तो 'नो मैटर नैवर माइण्ड,' अर्थात् फिर क्या चिन्ता ? फिर किस बात की झिक-झिक ?

जब भौतिक विज्ञानों की यह दशा हो, तब सामाजिक विज्ञानों की दुर्दशा कौन कहे ? भौतिक विज्ञानों की तुलना में सामाजिक विज्ञानों की शोचनीय पिछड़ी हुई अवस्था पर सभी पाश्चात्य विचारक खेद प्रकट करते हैं।

राजनीति का यह हाल कि लोकतंत्र, फासिस्तवाद और मार्क्सवाद को लेकर केवल विवादों का बवंडर ही नहीं चल रहा है, बल्कि कल्पनातीत जन-धन संहार भी हो रहा है। लोकतत्र से तानाशाही उत्पन्न होती हुई

देखी गई है और मार्क्सवाद से फेसिस्टशाही का जन्म होते पाया गया है रेमंड जी जैटेंल नामक लेखक ने "राजनीतिक विचारों का इतिहास नामक प्रामाणिक ग्रंथ (पृ० ४६४) में लिखा है कि 'राज- नीति की समस्यायें आज दो हजार बरस बाद भी वही हैं। वे अभी तक हल नहीं हुईं।'

मनोविज्ञान के आचार्य फ्रायड के दो प्रमुख शिष्य, जुङ्ग और ऐडलर! दोनों के मत न केवल एक दूसरे के ही प्रतिकूल, बल्कि स्वयं गुरुजी के मत मे भी भिन्न! हजारों मनोविज्ञानियों में से एक भी आज तक संकल्प-शक्ति अथवा मन की व्याख्या नहीं कर सका। इनकी नवीन विश्लेषणात्मक चित्त-वृत्ति अभी भारत की प्राचीन समन्वयात्मक चित्तविद्या तक भी नहीं पहुंच पाई। पाश्चात्य मनोविज्ञान के डार्विन फ्रायड ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि अभी हमें आधारभूत सहज प्रवृत्तियों का पता नहीं! जबकि बृहदारण्यक में तीन आधारभूत ऐषणाएं विद्यमान हैं और टाउनी तथा डाक्टर मैकडाउगैल प्रभृत प्रतिष्ठित पाश्चात्य चित्त-विद्या के आचार्य भी उनको मानने लगे हैं। पाश्चात्य विज्ञानाचार्यों में आपस में इतना मतभेद है कि वोहलेगयथी और आयनसत्ती फ्रायड के सिद्धान्तों के प्रबल विरोधी हैं। सामाजिक विज्ञानों के इन अनंत-वाद विवादों को देखकर गोस्वामी तुलसीदासजी की यह उक्ति याद आती है—
"जिमि पाखंड विवाद ते लुप्त होइ सद्ग्रंथ।"

इतिहास की बहुत दुहाई दी जाती है, परन्तु जिस मानव-जाति का जीवन लाखों बरस का है, उसके कुल दो-ढाई हजार बरस का इतिहास इनके पास है, सो भी अधिकतर यूरोप का। धर्म के विकास और प्राचीन (Classical) संस्कृति का बहुत-ही कम इतिहास प्राप्य है। भिन्न-भिन्न सभ्यता और संस्कृतियों का पूर्ण इतिहास भी उपलब्ध नहीं।

स्पेंगलर ओसवाल्ड के कथनानुसार भारतीय-संस्कृति का बहुत कम इतिहास उपलब्ध है, यद्यपि वह ईसा से बारह-सौ बरस पहले से लेकर ईसा के आठ-सौ वर्ष बाद तक बहुत ही उन्नत और गौरवपूर्ण अवस्था में रहा।

यूरोपीय इतिहास-ग्रंथों मे चीन और मिस्र के इतिहास के हजारों बरसों का उल्लेख साधारण घटना के तौर पर किया जाता है और ल्यूथर के बाद की दशाब्दियों का विशद वर्णन रहता है। चीनी और भारतीय विज्ञानों के सम्बन्ध मे पाश्चात्य इतिहासकार इससे अधिक कुछ नहीं जानते कि वे भी कभी थे। उनका विश्व-इतिहास पाश्चात्य केन्द्रीय यूरोप का सीमित इतिहास-मात्र होता है। सच बात तो यह है कि समस्त मानव-इतिहास अभी इतना बच्चा है कि उसके बल पर आधुनिक विचारों को ही सत्य मानना न बुद्धिसंगत है, न तर्कानुमोदित। स्पेंसर के शब्दों में पुराने इतिहास अधिकतर लुटेरों और डाकुओं के किस्सों, राजा और उनकी रखेलियों की काम-केलि की कहानियों तथा मानव-जाति के पैशाचिक काण्डों का संग्रह मात्र है। अभीतक यह बहस चल रही है कि इतिहास किस पद्धति से लिखा जाय? कोई कहता है कि इतिहास की भौतिक व्याख्या होनी चाहिए, कोई कुछ! इतिहास की मौलिकवादी व्याख्या यह नहीं बता सकती कि विश्व का विकास क्यों होता है? न यही कि योनि-भेदादि क्यों उत्पन्न हुए? न यही कि प्रतिभाशाली लोकोत्तर पुरुषों की उत्पत्ति कैसे होती है? तथा मानव-जाति का विकास कैसे होता है? अब कई इतिहास-ग्रंथ अवश्य नई पद्धति से लिखे गए हैं, परन्तु वे भी अधिकतर यूरोप के ही इतिहास हैं। प्रमाण? एच. जी. वेल्स का "विश्व इतिहास की रूप-रेखा" नामक ग्रन्थ! इस विश्व के इतिहास का आधे से अधिक अंश यूरोप का है, शेष आधे से कम में बाकी चार महा-द्वीपों के, जिनमें से कई यूरोप से बड़े-बड़े हैं। ग्यारह सौ पृष्ठ की इस पुस्तक में भारतीय इतिहास को ग्यारह पृष्ठ भी नहीं दिये गए। यद्यपि स्वयं लेखक ने इक्यासीवें पृष्ठ पर यह लिखा है कि आर्य जाति के आदि निवास स्था-नादि का इतिहास एशिया और भारत के टीलों और खण्डहरों में दबा पड़ा है और जब कभी इनके अंदर छिपा हुआ मानवेतिहास प्रकट होगा, तब इस समय का ज्ञान उसके सामने रद्दी साबित होगा। पृथ्वी के विकास की आध्यात्मिक कहानी तो अभी भारतादि के खण्डहरों से खोदकर

निकालनी है।

अखिल विश्व और मानव-जाति की समस्त समस्याओं को इस यूरोपीय इतिहास के माप-दण्ड से नापा जाता है। उदाहरणार्थ इब्सन ने अपने एक उपन्यास में तीन-चार सौ रुपए मासिक की आमदनी पर लन्दन शहर में रहने वाली नौरा नाम्नी नारी का चित्र चित्रित किया और झट ऐलान कर दिया गया कि वह नारी मात्र का चित्र है। यह भुला दिया गया कि इस चित्र को लेकर कोई जापानी साम्राज्ञी या भारत की किसी किसान कामिनी आदि के पास जा पहुंचे, तो प्रथम श्रेणी का मूर्ख बने। इस इतिहास से हमें कोई शिक्षा मिलती है, तो केवल यही कि उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। संसार में कोई ऐसा मत नहीं, जिसे इस इतिहास के आधार पर सिद्ध न किया जा सके।

एल्डस हक्सले ने अपनी "साध्य-साधन" नामक पुस्तक के छियासठवें पृष्ठ पर लिखा है कि फासिस्त, नात्सी और कम्यूनिस्त तीनों ही अपने अपने पक्ष को 'ऐतिहासिक' बताकर उसे न्याय्य और विवेकयुक्त ठहराते हैं। अर्थ-शास्त्र की एक बानगी लीजिए। विश्लेषणात्मक पद्धति के पारंगत पीरू साहब "अपनी सम्पत्ति और सुख" नामक पुस्तक में सुख की परिभाषा करने चले, तो बोले:—"सुख, सुख है, उसकी परिभाषा नहीं की जा सकती।" इसी प्रकार उनका कर्त्तव्य-शास्त्र अच्छे-बुरे सौंदर्य, सत्य-असत्यादि की कोई परिभाषा नहीं कर सका।

दर्शनों में काण्ट बुद्धि से परे शुद्ध बुद्धि तक पहुंचे। बर्गसों अंतर्दृष्टि तक, ह्वाइट हैड स्वानुभूति तक और अब एल्डस हक्सले आत्म-योग अथवा आत्म-रतिवाद तक। इनके अग्रगामी दल वेदान्त के राज-भवन के द्वार तक तो पहुंच जाते हैं, लेकिन वहां जाकर उसके भीतर पैठने में ठिठक जाते हैं, जैसे द्वारिकापुरी में भगवान कृष्ण के राजप्रसाद के द्वार पर पहुंच कर दरिद्री सुदामा अकारण, केवल स्वयं अपने हेय-भाव के कारण, भय अनुभव करता था।

मन ने पूछा—हमारे देश का सुशिक्षित समाज इसी पाश्चात्य ज्ञान-

विज्ञान पर क्यों गर्व से फूला फिरता है? वह अपने ज्ञान-विज्ञान के मोहन-भोग को छोड़कर पाश्चात्यों की उस झूठी पत्तल को क्यों स्वाद से खाता है, जिसे पाश्चात्य स्वय न केवल त्याज्य वल्कि संक्रामक कीटाणुओं से परिपूरित होने के कारण निषिद्ध भी समझते है? जिस देश ने मानव के सनातन प्रश्नों का हल उस समय कर लिया था, जब पाश्चात्य अपने ही कथनानुसार वानर-पशु की श्रेणी से निकलकर नर-पशु की श्रेणी में अथवा नर-पशु की श्रेणी से नर की श्रेणी मे विकसित होने की प्रक्रिया में थे। इस देश के शिक्षित युवकों की यह दशा क्यों? स्पेंगलर ओसवाल्ड के शब्दों में भारतीय विश्व विद्यालयों मे इन जीवों की आत्मा दोनों सभ्यताओं के खडहरों से दबकर क्यों कुचल गई है?

बुद्धि बोली—उत्तर देश की अप्राकृतिक परिस्थितियों मे है। हमारा देश पराधीन है। राजनीतिक साम्राज्य के साथ-साथ शासकों की सभ्यता और सस्कृति का साम्राज्य भी स्वभावतः स्थापित होता जाता है। शिक्षा के समस्त साधन उनके हाथ में होते हैं। पाठ्य-पुस्तक वे निश्चित करते हैं और पाठ्य-विषय भी। वहा भारत के विशेष ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा कहा दी जाती है? वहा तो साधारणतः समस्त प्राच्यो को और विशेष भारतीयों को सदा से हेय, असभ्य, और पददलित सिद्ध किया जाता है और पाश्चात्यों को साधरणतः तथा अग्रेजों को विशेषतः अलौकिक, सर्वगुणसपन्न, सर्व-विद्या-निधान बताया जाता है। शासक वर्ग के लेखक भारतीय सभ्यता की लालबुझक्कड़ी व्याख्या करने में और भारत के इतिहास के अर्थ का अनर्थ करने में शेखचिल्ली की कहानियों और मिस मेयो की मदर इंडिया को एक साथ मात देते हैं। किसी मसखरे का दिया हुआ एक उदाहरण लीजिए—इलाहाबाद, अहमदाबाद आदि शहरों के 'बाद' का उच्चारण अग्रेजी में 'बैड' करके और कानपुर, नागपुर प्रभृत्ति के 'पुर' का उच्चारण "पूअर" करके उन्होंने भाष्य किया कि हिंदुस्तान के शहर या तो खराब होते हैं, या गरीब। राम का उच्चारण "रैम" करके आपने व्याख्या की, हिन्दुओं का सबसे बड़ा देवता मैंढा है। सौभाग्यवती हिन्दू नारी के

ललाट पर सिन्दूर की बिन्दी का अर्थ लगाया गया कि बेचारी को उसके पति ने मारा है, जिससे ललाट से खून निकल रहा है। कालेज में पढ़ी हुई इतिहास की पुस्तकों की याद आई! उनमें बी० ए० में पढ़ाये जाने वाले इतिहास ग्रंथों में हम पढ़ते थे, "शिवाजी पहाड़ी चूहा है! तिलक चित्पावन ब्राह्मण हैं!! हिन्दुस्तानी गुलामी के आदी हैं!!!" स्टेनली लेन-पूल की 'मध्य युगीन भारत" नाम की इतिहास-पुस्तक यदि मेरी स्मृति मुझे धोखा नहीं देती, तो बीस तीस सोलह पेजी आकार से बड़े आकार की आठ सौ पृष्ठ की पुस्तक थी, परन्तु मध्यकालीन भारत के इतिहास की इस पुस्तक में महाराणा प्रताप के विषय में आठ पंक्तिया भी नहीं थीं। हा, इस बात का विशद वर्णन था कि मुसलमान हिन्दुओं पर कैसे-कैसे जुल्म करते थे? उनके मुह में थूकते थे, इत्यादि। सर जान स्ट्रैची के 'ब्रिटिश भारत' में साम्राज्यवाद का नंगा प्रचार था। जोधपुर के किसी महा-राज के मुंह से कहाया गया था कि हम बंगालियों के राज्य में रहने को कदापि तैयार नहीं हैं। किसी और से कहलवाया गया कि अगर अंग्रेज हिन्दुस्तान से चले गये तो कंचनचङ्गा से लेकर कन्याकुमारी तक एक भी हिन्दू स्त्री का सतीत्व भ्रष्ट हुए बिना न रहेगा! इस इतिहास-ग्रंथ मे यह भी लिखा था कि कोई तिवाना हिन्दुस्तान के आदर्श पुरुष हैं। सब हिन्दुस्तानियों को उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाश्चात्यों की सम्पत्ति, समृद्धि और सहस्रशः नए-नए शस्त्रास्त्रों मे सुसज्जित उनकी सैनिक शक्ति देखकर भी स्वभावतः लोग चौंधिया गए हैं। ऐसी दशा में यदि इस पराधीनता-पूतना के इस विषमय पय को पान करते हुए भारत की स्वदेशी संस्कृति और सभ्यता की अन्तरात्मा मृतप्राय हो चुकी हो और भारतीय शिक्षितों की यह मानसिक दासता, इङ्गलैंड नहीं तो किसी दूसरे देश की अन्धानुयायिनी हो गई हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

अन्तरात्मा पुकार उठी—क्या ज्ञान-गगा के इस उलटे प्रवाह को रोका नहीं जा सकता? क्या उसे पुनः सही-सीधे सन्मार्ग पर नहीं प्रवाहित

किया जा सकता ? उसीने उत्तर दिया हा, गीतामृत से भारतीय संस्कृति और सभ्यता को, भारतीय शिक्षितों और युवकों को अतरआत्मा को पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। जिस सस्कृति के संबंध में यूनानी लेखक मेगस्थेनीज ने यह लिखा था कि उसमें दासता न थी, घरों में ताले नही पड़ते थे, चोरी तो दूर, कोई झूठ भी नहीं बोलता था, स्त्रिया सती और पुरुष साहस में सबसे आगे थे। अनुपम पाश्चात्य विद्वान् एडवर्ड मीयर के शब्दो मे जिस सभ्यता और सस्कृति के व्यक्तियों और देवताओं के नाम आज भी सीरिया और फिलस्तीन प्रभृत्ति देशों में पाये जाते हैं, तथा फारसी जिस सस्कृति की शाखा मात्र है, वह एक बार फिर नवजीवन प्राप्त कर समस्त ससार का सकट-मोचन कर सकती है।

इस उद्देश्य से गीता के प्राचीन शाकर भाष्यादि की ओर देखा, तो उन सबको अपने-अपने युग की विभूतिया मानकर और उनकी अलौकिक प्रतिभा तथा सदुद्देश्यता को बार-बार नमस्कार करते हुए भी तुलसीदासजी का वह दोहा याद आया, जो उन्होंने भगवान कृष्ण की मुरलीधारी मनोहर मूर्त्ति को देखकर कहा था:—

कहा कहौ छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लो हाथ॥

वे अपने युग के इष्ट थे, आज के नहीं। आज के मानव का मस्तक तो उसी भाष्य के लिए नवेगा, जो आज के युग-धर्म की स्थापना और उसका अभ्युत्थान करने में प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान करे।

नये भाष्यकारों में योगिराज अरविद, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाधी को देखकर आशा बंधी। विश्वास हुआ कि इस त्रिवेणी में डुबकी लगाकर निस्सन्देह समस्त कलि-मल धुल सकते हैं। तीनों अपनी-अपनी दृष्टि से अद्वितीय, तीनों अधिकाधिक आदरणीय। परन्तु इनमें भी सर्व-साधारण सुलभ कोई नही। योगिराज का शुद्ध सैद्धातिक विवेचन स्वयं गीता के शब्दों में अव्यक्त की तरह दुरूह और दुर्लभ, जिसको "गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते"। महात्माजी का अनासक्ति-योग सूत्र-कथन मात्र। सूत्र-

मन्त्रों का मर्म समझकर प्रयोगों द्वारा उन्हें सिद्ध करने का भारी भार निर्बल बुद्धि-बल पर ही डाल दिया गया। उन्हें अंगुलि का संकेत, सहारा भी नहीं मिला। रहा लोकमान्य तिलक का गीता-रहस्य; वह एक तो बहुत बड़ा ग्रंथ है। दूसरे वह भी तीस बरस पुराना हो चुका है। इन तीन दशाब्दियों में जिन नवीन विचारों और समस्याओं का उदय हुआ, विचार-धारा के जो नए प्रवाह बहे, विज्ञान में जो नए आविष्कार हुए और ज्ञान-भंडार की जो नवीन वृद्धि हुई, उनकी उसमें स्पष्टतः कोई चर्चा हो ही कैसे सकती है? अतः इन तीनों के समुच्चय के आधार पर एक ऐसे भाष्य की आवश्यकता रह ही गई, जो नवीन संसार की नूतन समस्याओं के सिलसिले मे, नये शब्दों मे गीता के सनातन सञ्जीवन-शास्त्र को सर्वसाधारण के लिए सुलभ करे और पुस्तक छपते समय तक के पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से उसकी तुलना करके उसकी श्रेष्ठता और सम्पूर्णता को स्पष्ट सिद्ध करे। ये विचार मन में चक्कर मार ही रहे थे कि सन् १९४३ की जन्माष्टमी आ गई। मित्रों के आग्रह-अनुरोध पर गीता-गरिमा-गान करते हुए अपने विचार प्रकट किये। उस स्वल्प श्रोतृमण्डली में सभी कर्मवीर थे, सभी विद्या-व्यसनी। उनमें कम्यूनिस्ट भी थे और फारवर्ड ब्लाकी भी। समाजवादी भी थे और निर्दल स्वतंन्त्र विचारों के लोग भी। उग्र क्रांतिकारी विचारों के लोग भी थे और गांधीवादी भी। इस विभिन्न और विशिष्ट मण्डली ने स्वभावत. मेरे विचारों को अपनी-अपनी रुचि और भावना के अनुसार देखा। परंतु स्वयं मुझे वे विचार अच्छे मालूम हुए और मुझे यह भी लगा कि अधिकांश लोगों ने उन्हें नापसन्द नहीं किया। उनमे से कई ने तो गीता-क्लास का आग्रह किया, जिसके फलस्वरूप उक्त क्लास हुई भी। परन्तु ग्यारह अध्याय ही हो पाये थे कि आई० जी० अर्थात् जेलों के इंस्पेक्टर जनरल के आनेपर उनके, विशेषकर स्थानीय अधिकारियों के नियम विरुद्ध और अपमान जनक व्यवहार के प्रति रोष प्रकट करने के लिए उनके शिष्टाचारार्थ खड़े होने से इनकार किया गया। दंड-स्वरूप दो-दो महीने के लिए हमें डाकुओं और हत्यारों के

दुबारा चक्कर की काल-कोठरियों में बंद कर दिया गया। एक गीता-प्रेमी साथी ने कहा—"और तो सब बहुत अच्छा हुआ, परन्तु गीता-क्लास में विघ्न पड़ गया, यह बुरा हुआ।" मैंने उत्तर दिया—"नहीं, गीता-क्लास में कोई विघ्न नहीं हुआ, केवल इतना ही हुआ है कि तब सिद्धांत-शिक्षण था, अब प्रयोग का यथार्थ पाठ है।"

१९४३ इसी तरह बीत गई। जनवरी १९४४ में एक दर्जन से अधिक अच्छी पुस्तकें मिल जाने के कारण मार्च तक उनका पढ़ना और नोट लेना चलता रहा।

अंत मे रामनवमी को गीतामृत का श्रीगणेश कर दिया गया। लिखते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि नवयुग की नई व्याख्या-स्वरूप इस समयानुकूल भाष्य की भाषा विषयानुकूल हो और शैली अंत: स्फूर्ति के अनुकूल सजीव। उतनी गभीर नहीं, जितनी सजीव। जिससे यह मानसिक भोजन गीता-ज्ञान की भूख बढ़ानेवाला सुस्वादु तथा सुपाच्य हो। यथा-शक्ति पारिभाषिक शब्दों के स्थान पर प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है। और विषय को जितना हो सका, वर्णनात्मक रखा गया है। सूक्ष्म तात्विक विवेचन और तर्क-वितर्कों के ताते से बचने का प्रयत्न किया गया है। संक्षेप मे गीतामृत मे सनातन-सञ्जीवन-शास्त्र को नए युग, नए ससार की नई भाषा के नए शब्दों में व्यक्त किया गया है। हजारों बरस पुराने दुरूह शब्दों में जो अमूल्य विचार छिपे हुए थे, उन्हें अर्वाचीन जीवन तथा सभ्यता के अनुकूल उन शब्दों में प्रकट किया गया है, जो इन दिनों में मानव-हृदय को आकर्षित और संचालित करते हैं। इसे ही यों कहिए कि सनातन सत्यों के देशकालावस्थानुसार निर्मित नाम-रूप अनित्य तथा परिवर्तनशील होते हैं, अतः प्रत्येक युग में उन्हीं सत्यों को युगानुसार नाम-रूपों में, वेश-भूषा में व्यक्त करना होता है। इसी अर्थ में महात्मा गाधी ने अनासक्तियोग में कहा है, गीता के महा-वाक्यों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा, परंतु उसका मूल-मन्त्र कभी नहीं बदलेगा। बस, गीतामृत में भी गीता के सना-

तन मूल-मन्त्रों को नए संसार के शब्दों में व्यक्त किया गया है।

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' के रूप में अब यह पुस्तक पाठक-परमेश्वरों की भेंट है। आशा है, वे गीता के नवे अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में दिये गए अपने वचन को याद करके इस भक्ति-भेंट को कृपापूर्वक स्वीकार करेंगे।

: २ :

गीता-गौरव

हिंदू-धर्म में प्रस्थानत्रयी का स्थान बहुत ऊंचा है। उपनिषद, बादरायणाचार्य के वेदांत सूत्र और भगवद्गीता ये तीनों सर्वमान्य और प्रामाणिक माने जाते हैं। इनमें भी गीता का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान के आधार पर कर्त्तव्य-शास्त्र का विवेचन केवल गीता ही में किया गया है और भगवद्गीता में यही विषय प्रधान है। यही कारण है कि न केवल अन्य गीताएं ही, बल्कि योग-वासिष्ठ भी भगवद्गीता के सामने गौण ही माने जाते हैं।

गीता-ध्यान में यह बिल्कुल ठीक ही कहा गया है कि सब उपनिषद् रूपी गायों को दुहकर भगवान् कृष्ण ने यह दूध रूपी गीतामृत प्रदान किया है। सचमुच गीता में श्रुति, स्मृति, वेद-वेदांत, उपनिषद् तथा शास्त्रपुराणादि को मथकर उन सबका सार भर दिया गया है। गीता के केवल सात सौ श्लोकों में उनके सर्वोच्च सिद्धांतों का समावेश तो है ही, साथ ही उन सब का समन्वय, सामञ्जस्य और समुच्चय भी है। यही कारण है कि हिंदू-धर्म में जिस-किसी ने नये सम्प्रदाय-सिद्धांत को प्रवर्तित-संस्थापित किया, उसके लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक रहा कि वह उपनिषद् और वेदान्त सूत्रों के साथ भगवद्गीता का भाष्य भी अपने सम्प्रदाय के अनुकूल करे। गीता के अनेक भिन्न-भिन्न भाष्य होने का यही कारण है।

विश्व की रचना सम्बन्धी सिद्धांत को लीजिए। यों तो यजुर्वेद और कुछ उपनिषदों में भी सृष्टयुत्पत्ति की चर्चा मिलती है, परंतु उसका पूर्ण

शास्त्रीय विवेचन हिन्दू शास्त्रों में ही मिलता है। छओं शास्त्रों में से पतञ्जलि के योग-शास्त्र में मुख्यतः योग-क्रिया का सुविस्तृत और सुव्यवस्थित शास्त्रीय वर्णन मात्र है। वह वैयक्तिक जीवात्मा और परमात्मा के योग की क्रिया का शास्त्र है। जैमिनि की पूर्व मीमासा वेद को ही ईश्वर तथा प्रमाण मानती है। वह कर्मकाण्ड का ग्रंथ है, जिसमें वेदोक्त यज्ञ-यागादि की विवेकयुक्त दार्शनिक व्याख्या की गई है। गौतम का न्याय-शास्त्र वास्तव मे तर्क-शास्त्र है, जिसमें अनुमानादि प्रमाणों का विश्लेषण किया गया है। ये विश्व को सनातन परमाणुओ द्वारा रचित मानते हैं। कणादि ऋषि के वैशेषिक शास्त्र में सृष्टि-रचना का कारण कणों को अणु-परमाणुओं को ही माना गया है, जो स्वयंभू और सनातन हैं। इनके मत मे वैयक्तिक जीवात्मा भी अनादि हैं। यह शास्त्र कण और आत्मा के द्वैत को मानता है। इसके मतानुसार विश्वात्मा के साथ-साथ कण और जीवात्मा दोनों विद्यमान थे। कणाद ने द्रव्य, गुण, रूप, सामान्य, विशेष, समन्वय और प्रभाव ये सात पदार्थ माने हैं। इनमें द्रव्य, गुण, कर्म का संबन्ध बाह्य संसार भूतों से है; सामान्य, विशेष, और समन्वय का अध्यात्म से तथा प्रभाव का द्वन्द्ववाद से। गौतम और कणाद दोनों भौतिकवादी और ईश्वर के प्रति अविश्वासी थे। जैसे पश्चिम में डाल्टन का परमाणुवाद डार्विन के विकासवाद के सिद्धात के सामने अग्राह्य हो गया, उसी प्रकार भारत में भी कपिलमुनि के साख्य-शास्त्र के सामने गौतम और कणाद के मत अग्राह्य ठहराये गये और साख्य शास्त्र सर्वमान्य हुआ। परंतु साख्य भी प्रकृति और पुरुष के द्वैत को मानते हैं, तथा ईश्वर को प्रकट रूप से न मानने के कारण नास्तिक माने जाते हैं। अतः षड्दर्शनों में सर्वोच्च विश्व-सम्बन्धी व्याख्या व्यास मुनि के वेदात में है। गीता का विश्व-सम्बन्धी सिद्धात इन्हीं दोनों शास्त्रों-सांख्य-शास्त्र और वेदात के सर्वोच्च सिद्धातों का तथा द्वैत-अद्वैत और निर्गुण-सगुण का समन्वय है।

अब गीता के कर्म-शास्त्र संबंधी सिद्धातों को ले लीजिए। मनुस्मृति

(१०, ६३) में सब लोगों के लिए नीति धर्म के (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) शौच और (५) इन्द्रिय-निग्रह ये नियम बताए हैं। परन्तु अन्य श्रुति-स्मृतियों का तो कहना ही क्या, स्वयं मनुस्मृति में इसके विरोधी मत मिलते हैं। उदाहरणार्थ स्वयं मनुस्मृति (८. ३५.) में यह लिखा हुआ है कि आततायी गुरु, वूढ़ा, वालक या ब्राह्मण भी हो, तब भी उन्हें अवश्य मार डाले। इसी प्रकार यदि आततायी छाती पर आ चढ़े और प्राणों का भय दिखाकर धन, शरणागतादि का पता पूंछे, तो स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने कर्ण पर्व में अर्जुन से और शाति पर्व में भीष्म-पितामह ने युधिष्ठिर से कहा कि यदि ऐसे अवसर पर बिना बोले न सरे और या न बोलने से आततायी को अपनी वात का संकेत मिलने की संभावना हो, तो उस समय सत्य के बदले असत्य बोलना ही अधिक प्रशस्त है। महाभारत के शाति-पर्व में नारदजी शुकजी से पूछते हैं कि जिससे सब प्राणियों का हित होता हो, वही सत्य है। शाति-पर्व में यह कथा है कि दुर्भिक्ष से पीड़ित होने पर विश्वामित्र ने चांडाल के घर कुत्ते का मास चुरा कर खाया और इस प्रकार शौच और अस्तेय दोनों नीति-धर्मों को तोड़ा। मनु महाराज ने लिखा है कि अजीगर्त, वामदेवादि ऋषियों ने भी इसी प्रकार आपत्तिकाल में आचार-संबंधी मर्यादा का उल्लंघन किया था। अब प्रचलित सामाजिक आचारों को ले लीजिए। उनमें से किस समय किस देश के किस आचार को माना जाय? महाभारत (आ० १२२ और ७६) में यह कथा है कि प्राचीन काल में स्त्रियों के लिए विवाह की मर्यादा नहीं थी। वे इस विषय में स्वतंत्र और अनावृत्त थीं। इस आचरण के दुष्परिणामों को देखकर श्वेतकेतु ने विवाह की मर्यादा स्थापित की। इसी तरह मदिरा-पान का निषेध भी पहले-पहल शुक्राचार्यजी ने किया। शाति-पर्व में भीष्मपितामह ने यह ठीक ही कहा है कि ऐसा एक भी आचार नहीं है, जो सदैव सब लोगों के लिए एकसा हितकर हो। इसके अतिरिक्त बहुधा एक आचार पर चलने से दूसरे का व्याघात होता है। ऐसा कोई भी कुल अथवा समाज, धर्म अथवा आचार नहीं है, जो

प्रत्येक देश कालावस्था में ठीक उतरे। इसलिए स्मृतियों का आचार-प्रभवोधर्म वाला सिद्धात पूर्णतया ठीक नहीं ठहरता। यही हाल जैमिनि के 'चोदनात्मक लक्षणोऽर्थो धर्म' का होता है। इसके माने यह होते हैं कि धर्म की विधि-निषेध संबंधी आज्ञाओं, प्रचलित प्रथाओं-परिपाटियों आदिका पालन करो। परंतु ये सभी परस्पर विरोधिनी होती हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रथाएं सदा एक-सी नहीं रहतीं। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर महाभारत के वन पर्व में युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा था कि "तर्क अथवा बुद्धि का निर्णय अनिश्चित है, श्रुतियों की आज्ञा भिन्न-भिन्न, स्मृतियों में किसी भी एक ऋषि का वचन दूसरे से अधिक मान्य नहीं माना जा सकता। धर्मों का तत्व बहुत गूढ़ होता है, इसलिए इन सबसे यही अच्छा है कि महाजनों के पद-चिन्हों पर चलकर कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिए। लेकिन महाजनों के पद-चिह्न भी तो अनन्त हैं, उदाहरणार्थ कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद में इन्द्र जैसा महाजन स्वयं प्रतर्दन से कहता है कि "मैंने वृष नाम के ब्राह्मण को मार डाला, अरुन्मुख संन्यासियों के टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियों को खिला दिये और अपनी कई प्रतिज्ञाओं को भंग करके प्रह्लाद के नातेदारों तथा गोत्रजों का बध किया, फिर भी मेरा बाल तक बांका नहीं हुआ।"

साराश यह कि कर्म-शास्त्र का सर्वथा निर्दोष सिद्धात हमे न श्रुतियों में मिलता है, न स्मृतियों में, न शास्त्रों में, न पुराणों में। भगवद्गीता प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग का सिद्धात ही हिन्दू-धर्म का सर्वोच्च सिद्धात है। इसमें उपनिषदों के वेदांत सूत्र के ज्ञान-योग और मीमासकों के कर्म-काण्ड का समुच्चय तथा दूसरी ओर ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग का सुन्दर समन्वय किया गया है। गीता के मतानुसार ब्रह्म-विद्या और भक्ति का जो मूल तत्व है, वही नीति और सत्कर्म का आधार है। गीता में श्रुतियों श्रोतों के चतुर्मास्य, ज्योतिष्टोम आदि पशु-यज्ञों और स्मृतियों के पंचमहा-यज्ञ का भी समुच्चय है। गीता के चौथे अध्याय के तैंतीसवें श्लोक में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि यज्ञों में ज्ञान-यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है। दसवें

अध्याय में कहा है कि यज्ञों में मैं जप-यज्ञ हूं। गीता का मत है कि ज्ञानी लोग—प्राण और इन्द्रियों के सब कर्मों को आत्म-संयम योगाग्नि में हवन करने को ही यज्ञ कहते हैं। (अध्याय ४ श्लोक २७) अग्नि में आहुति डालते समय 'इदन्नमम' कहकर ममत्व बुद्धि का त्याग करना, अर्थात् ममता त्याग करके निस्वार्थ बुद्धि से परमात्मा प्रवर्त्तित-यज्ञ चक्र को चलाना, लोक-संग्रह के काम—समाज की सेवा करना ही गीता के मत में सर्वोत्तम मार्ग है। गीता ज्ञान-काण्डियों के इस सिद्धात को मानती है कि ज्ञान के बिना फलासक्ति से मोक्ष अर्थात् शुद्ध बुद्धि नहीं मिलती। परंतु वह उनके इस सिद्धात को नहीं मानती कि सब कर्म मोक्ष-विरोधी बंधन-कारक है। उसका कहना है कि कर्मों का बन्धकत्व अथवा ज्ञान से विरोध काम्यकर्मों में ही है, निष्काम कर्मों में नही। मीमांसकों का यह मत गीता को ग्राह्य है कि परमात्मा प्रवर्त्तित यज्ञ-चक्र अथवा लोक-संग्रह और समाज-सेवा से विमुख नहीं होना चाहिए। हा, लोक-संग्रह और समाज-सेवा रूपी यज्ञ-कर्म भी निष्काम भाव से करने चाहिए। इससे स्पष्ट है कि गीता जगत्रूपी जगदीश्वर अथवा जनता-जनार्दन की सेवा से विरक्त होने के लिए कदापि नहीं कहती, उसमें निरत होने को कहती है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था और भारतवर्ष का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि भारतीयों ने सामूहिक रूप से सन्यास मार्ग को कभी स्वीकार नहीं किया। संन्यास की ओर उसका झुकाव तभी हुआ, जब आर्थिक और राजनीतिक अत्याचारों का अर्थात् शोषण का साम्राज्य हुआ और सामाजिक प्रगति की गति रुक गई। जिस भारत के व्यापारी जल-थल से फारस, फिलस्तीन, मिस्र, रोम, स्याम, चीन, बर्मा, जापान आदि को माल भेजते थे, जिसके कपड़ों को पहनकर इंग्लैंड की सुन्दरिया अपना 'अहोभाग्य' समझती थीं और जिसका कपड़ा सात समुद्र दूर इङ्गलैंड में ले जाये जाने पर भी वहा के कपड़ों से कई गुना सस्ता बिकता था, उसकी बाबत यह कैसे कहा जा सकता है कि वह संन्यासी रहा? जिस भारत की सम्पत्ति और भौतिक समृद्धि की कहानिया सुनकर उसके उत्तर-पश्चिम को सभी

मानव-जातिया इसे सोने की चिड़िया समझतीं थी और जिसने आज से दो हजार बरस पहले स्वदेश में इतना विशाल साम्राज्य स्थापित किया था, जो आज के ब्रिटिश भारत से भी बड़ा था, उसकी बाबत यह कहकर कि वह संन्यास प्रधान था, कौन अपने अज्ञान का ढिंढोरा पीटेगा? सोने-चादी की खानों, नाज-कपास व पशु-धन के भण्डारों वाले, अजन्ता की गिरि-गुहाओं वाले, मोहेनजोदड़ो के खण्डहरों वाले, दक्षिण के मन्दिरों और आगरे के ताजमहल वाले भारत के लिए यह कहने का कोई कैसे साहस करता है कि गीता-धर्म-प्रेरित भारत ने अपनी भौतिक उन्नति की ओर ध्यान नहीं दिया? भारतीय अन्तरात्मा को जब-जब अवसर मिला है, तब-तब उसकी संस्कृति और सभ्यता प्रस्फुटित होकर फल-फूलों से पूर्णतया आच्छादित होती रही है।

गीता के संदेश की सञ्जीवन शक्ति के प्रधान प्रमाणों की ओर उपयु'क्त संकेत मात्र से इतना स्फटिक की तरह स्पष्ट हो जाता है कि गीता धर्म अत्यंत क्रातिकारी, प्रगतिशील और समुच्चयात्मक है।

भारत का तत्कालीन इतिहास गीता की क्रांतिकारिणी, प्रगतिशील और समुच्चयात्मक अमोघ शक्ति का साक्षी है। गीताकार भगवान् कृष्ण का समय ईसा से छः सौ वर्ष पहले माना जाता है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा है, भगवान् कृष्ण ने ईसा से छः सौ बरस पहले भारत में भागवत धर्म की स्थापना करके साकार हरि की पूजा प्रचलित की और ईसा के छः सौ वर्ष पहले से लेकर ईसा के तीन सौ वर्ष बाद तक नौ सौ वर्ष भारतीय समाज के उस धर्म-प्रधान युग में भारत धार्मिक क्रातियों का क्रीड़ा-स्थल रहा। समस्त संसार के इतिहास में और कोई वाद ऐसा है, जिसकी प्रेरित क्राति-कल्लोलिनी नौ सौ बरस तक प्रवाहित होती रही हो? गीता-प्रेरित क्राति के कारण ही निराकार ईश्वर की जगह साकार ईश्वर की उपासना बढ़ी, संन्यासियों की अव्यक्त उपासना का स्थान जगत्रूपी जगदीश्वर और जनता रूपी जनार्दन की सेवा में सर्व सुलभ तत्व ने लिया। गीता-प्रेरित क्राति के कारण ही हिंदू-धर्म में मानव-जीवन की समस्त समस्याओं की

विवेक युक्त व्याख्या हुई और हुआ तर्क अथवा विवेचनात्मक विश्लेषण के आधार पर सुगठित व्यवस्था द्वारा उन्हें हल करने के प्रशंसनीय प्रयत्न का श्रीगणेश। गीता-प्रेरित क्रांति के कारण ही यज्ञों में पशु-बलि के प्रति घृणा तथा अहिंसा व जीव-दया के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दू संस्कृति का समस्त तत्कालीन इतिहास इस चौमुखी क्रांति का इतिहास है।

गीता के भक्ति-मार्ग में न योनि-भेद है, न जाति-भेद और न श्रेणी-भेद। पाचवें अध्याय के अठारहवें श्लोक में गीता ने विद्या-विनय-संपन्न ब्राह्मणों और श्वपाकों चाण्डालों को ही नहीं गौ-गज-श्वानादि पशुओं को भी समदृष्टि से देखने का जो सन्देश दिया है, उसकी बराबरी के, समता के सन्देश संसार के साहित्य में कितने हैं? नवे अध्याय के तीसवें श्लोक में वेश्यादि दुराचारियों और बत्तीसवे में स्त्रियों, शूद्रों तथा संपत्तिवादियों को भी जो अमर आश्वासन दिया गया है, ऐसे अमर आश्वासन कहा और कितने हैं?

सत्रहवें अध्याय के चौथे श्लोक में अपनी-अपनी श्रद्धानुसार ही देव और यक्ष ही नहीं प्रेतादि की पूजा का भी समावेश करके तथा नवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में यह कहकर कि जो श्रद्धान्वित होकर दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, विशाल हिन्दू जाति के शतशः सम्प्रदायों को सास्कृतिक समुच्चय का जो सन्देश दिया गया है, वह किस सिद्धान्त से कम क्रान्तिकारी और प्रगतिशील है?

गीतोक्त समुच्चयात्मक शक्ति के बल पर ही हिन्दू धर्म प्राचीन वैदिक सम्प्रदायों, शैवों, शाक्तों और वैष्णवादिकों तथा यहा के आदिम निवासी अनार्यों को भी एक सूत्र में बाध सका। त्रिमूर्त्तिका विकास इस समन्वय का सुन्दर इतिहास है। ब्रह्मा वैदिक आर्यों के देवता थे। शिव आदिम अनार्यों के। विष्णु हिन्दुओं के। आदिम अनार्यों को हिन्दू धर्म में मिलाने के लिए ही त्रिमूर्त्ति, और हरिहर-पूजा का विकास हुआ। करनाटक और महाराष्ट्र में रहने वाले वीर लिगायतों से एकता स्थापित करने के लिए "स्वार्त्तेकि पञ्चदेवों" विष्णु, शिव, अग्नि, सूर्य और गणेश की उपासना

का उदय हुआ।

गीता-गङ्गोत्री से निकली हुई क्रान्ति कल्लोनिनी के फलस्वरूप ही हिन्दू संस्कृति आज संस्कृतियों का विचित्रालय बनी हुई है। उसमें पत्थर-युग से लेकर बीसवीं सदी की उच्चतम संस्कृति के लिए एक-सा स्थान है। यही कारण है कि सभी सम्प्रदायों के हिन्दू गीता को हिन्दू धर्म का प्रामाणिक ग्रंथ मानते हैं। यही कारण है कि यदि किसी एक पुस्तक को हिन्दू धर्म की पुस्तक कहा जाय, तो वह सर्वोपरि स्थान केवल गीता को ही मिल सकता है। गीता-प्रदत्त सांस्कृतिक समन्वय की शक्ति का ही यह चमत्कार है कि सन् १९४५ की जनवरी में नई दिल्ली में मानव (जाति) शास्त्र परिषद् के सभापति के पद से श्री वेरियर एल्विन को यह कहना पड़ा कि—"हिन्दुस्तान के आदिम निवासियों का धर्म हिन्दू धर्म न भी हो, तो भी वह कम-से-कम हिन्दू-परिवार का धर्म अवश्यमेव है। उसका और कोई वर्गीकरण बेकार से भी बुरा होगा।"

इसी संस्कृति के फलस्वरूप हिन्दू-धर्म गीतोक्त धर्म, समाज की व्यवस्था-जीवन का मार्ग है—दर्शन-विशेष या धर्म-स्मृति विशेष नहीं। गीतोक्त कर्मशास्त्र के कारण ही भारतीय संस्कृति का कर्त्तव्य-शास्त्र एक साथ ही आत्म-रक्षा के लिए वज्रादपि कठोर व सबसे मिलने के लिए कुसुमादपि कोमल है। वह समस्त जातिगत्, बुद्धिजन्य तथा सांस्कृतिक भेदों के प्रति सहिष्णु है; सबसे हिल-मिलकर सबको मिलाने की अनुपम शक्ति रखता है। उसमें मनुष्य के सामाजिक, आध्यात्मिक और मानसिक तथा शारीरिक विकास से ऊपर-नीचे की असंख्य श्रेणियों के लिए जगह है।

सांस्कृतिक समुच्चय की यह प्रगतिशील प्रक्रिया अठारहवीं सदी तक, भारत में अंग्रेजों के आने तक जारी रही। इसी दिशा में भक्ति-मार्ग ने चमत्कारिक सफलता पाई! इस मार्ग के प्रवर्त्तकों ने संस्कृत को छोड़कर सर्व साधारण की भाषा को अपने प्रचार का साधन बनाया। सोलहवीं सदी में महाराष्ट्र के संत तुकाराम और हिन्दी के अमर महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी के उपदेश घर-घर में घर कर गए। हिन्दू-जाति जाह्नवी का

मुस्लिम [illegible]-जामुना से संगम तो हिन्दुस्तान में मुस्लिम-राज और धर्म की स्थापना से पहले ही विद्यमान था।

[illegible] सदी में संस्कृति सरस्वती को भी उसमें मिलाने की प्रक्रिया प्रा[illegible]। [illegible] सदी में गुरु नानक ने अनाम ईश्वर की उपासना का प्र[illegible] करके इस ओर प्रशंसनीय प्रयत्न किया। सत्रहवीं सदी में [illegible] कबीर भावुक और रोहिदास आदि ने वर्णाश्रम के भ्रष्ट [illegible] जाति-भेद की जड़ पर कुठाराघात किया। अठारहवीं सदी में [illegible] कर दिखाया कि उसके मरने पर हिन्दू-मुसलिम दोनों [illegible] को अपनी बताकर मागने लगे! कबीर, दाऊदयाल आदि की [illegible]शील सूक्तियों में आज भी जितनी हृदय-भेदी शक्ति है, [illegible] और जवाहर की वाणी में भी नहीं है। रहीमादि ने इस प्रगति-[illegible] को जारी रखा। रसखान के रूप में तो यह प्रक्रिया इतने [illegible] पर पहुंच गई कि कृष्ण की भक्ति विषयक उसकी कविता [illegible] पर समस्त हिन्दू कवियों की काव्य-शक्ति और उनके भक्ति [illegible] चुनौती दे डाली।

[illegible] हम देखते हैं कि हमारा गीता का सनातन-संजीवन-शास्त्र हिन्दुओं को ही एक सूत्र में नहीं बांधता, वह अद्यकालीन सांस्कृतिक समन्वय की समस्या को सफलतापूर्वक हल करने की भी शक्ति तथा सामर्थ्य रखता है। गीता हिन्दू-धर्म की ही नहीं राष्ट्र-धर्म की भी क्रान्तिकारी और प्रगतिशील पुस्तक है। यही कारण था कि अनजाने इस अन्तरनुभूति से प्रेरित होकर, भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के प्रारम्भिक काल के [illegible] और सैनिक गीता को अपनी जीवन संगिनी पाते थे। यही कारण था कि विदेशी सत्ता गीता को भय और सन्देह की दृष्टि से देखती थी। वह लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य का पढ़ा जाना नापसंद करती थी। उसका यह अपडर १९४० तक गोरखपुर के एक अधिकारी की इस [illegible] रिपोर्ट में व्यक्त हुआ बताया जाता है कि कृष्ण नाम का कोई शख्स गीता नाम की किताब से विद्रोह के भाव फैला रहा है

उस व्यक्ति को फौरन गिरफ्तार करके उसकी किताब को जब्त कर लेना चाहिए।'

जिस गीता ने गौतम बुद्ध और भगवान ऋषभदेव को भगवान का अवतार मनवा दिया,उस गीता को गुरु नानक, महावीर,हजरत मुहम्मदादि को एक ही ईश्वर का अवतार, उसी की विभिन्न विभूतियां मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ? जो समुच्चयात्मक संस्कृति शक, हूणादि आक्रमणकारी, विदेशी और विजेता जातियों को शीरो-शकर की तरह हिला-मिला और घुला सकती है, क्या वह आजकल की साम्प्रदायिक समस्याओं को हल नहीं कर सकती ? सच बात तो यह है कि महान् अकबर के समय सांस्कृतिक संगम का यह पुनीत प्रयत्न प्रवाहित हो चला था, परन्तु औरंगजेब के शासन में उसकी गति रुकी, अंग्रेजों के आने पर वह स्थिर हो गई और साम्राज्यवादी छल-बल-नीति के कारण अब उलटी ही गंगा बह रही है।

परंतु आज भी यदि हम गीता के महामन्त्रों के मर्म को समझ कर निस्वार्थ भाव से अहं की आहुति देकर प्रयोगों द्वारा उन्हें सिद्ध कर लें, तो स्वदेश की समस्त समस्याएं सुलझ सकती हैं।

यह हर्ष और सन्तोष की बात है कि स्वदेश और विदेश में सर्वत्र गीता के महत्व को लोग अनुभव करते जा रहे हैं। संसार की लगभग सभी सभ्य और अर्द्ध सभ्य भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। गीतामृत की एक-एक बूंद लेकर अमेरिका में एमर्सन ने, इङ्गलैण्ड में कार्लाइल ने और रूस में टाल्स्टाय ने विश्व-साहित्य को सञ्जीवित किया है। जगत् प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक रोम्या रोला को अपनी जीन क्रिस्टोफर नाम की जिस कृति पर संसार का साहित्य-सेवा-संबंधी सर्वोच्च पुरस्कार नोबुल-पुरस्कार मिला, उसमे गीता के महा वाक्यों को सोत्साह उद्धृत किया गया है और उसका नायक गीता की कर्मनिष्ठा से सराबोर प्रतीत होता है। अमेरिका और यूरोप के कई देशों के विश्वविद्यालयों मेंदर्शन-

शास्त्र की पाठ्य-पुस्तकों में गीता भी पढ़ाई जाने लगी है। लंदन में जो गीता-क्लास दसियों वर्ष पहले खोली गई थी, उनमें सब श्रेणियों के लोग आते थे।

पाश्चात्य विद्वान् अब इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि सबसे पुराने और अद्यावधि सबसे अधिक प्रतिष्ठित दार्शनिक और विचारक अफलातू ने भारत आकर गङ्गा-किनारे हिन्दुओं से ज्ञान-शिक्षा पाई थी। शोपेनहर ने बहुत पहले ही यह कह दिया था कि भारतीय दर्शन यूरोप में प्रवाहित होकर वहा के ज्ञान को गहरा कर रहा है, तथा उसको बदल रहा है। प्रसिद्ध फ्रासीसी हास्यरसाचार्य वाल्टेयर ने यह माना है कि ईसाइयों ने अपने कई सिद्धात तथा कर्म-काड और पूजा-पाठ के विधि-विधान भारत से लिये।

गीता-धर्म ईसाई, मुस्लिम प्रभृति अन्य धर्मों की तरह आक्रामक तो दूर प्रचारात्मक भी नहीं, वह शुद्ध समुच्चयात्मक है। गीता भारत का वह विशेष संदेश है, जो स्वतंत्र भारत संतप्त संसार को उसके त्राण और कल्याण के लिए दे सकता है। उसकी शिक्षाएं सार्वभौमिक सार्वजनीन और सर्वकालीन हैं। वे किसी देश या काल तक सीमित अथवा सकुचित नहीं। सात सौ श्लोकों में सत्तर भी ऐसे नहीं निकलेंगे, जो प्रादेशिक हों और ये प्रादेशिक प्रकरण भी, कथानक के पृष्ठ भाग में तत्कालीन देश कालावस्था में, उनका प्रयोग समझाने के लिए प्रसङ्गवश आए हैं। गीता किसी धर्म-विशेष का प्रचार नहीं करती। हिंदू-धर्म की इस एक-मात्र पुस्तक में उपदेश के प्रारम्भ में ही दूसरे ही अध्याय में हिन्दुओं के सर्वोच्च ग्रथ वेदों तक सीमित न रहने का संदेश दिया है। इस अध्याय के इकतालीसवें श्लोक में शुद्ध तथा सुस्थिर व्यवसायात्मिका बुद्धि का आदेश देते ही चालीसवें में अर्जुन को यह निर्भीक निर्देश किया गया है कि तू वेद-वाद के बवण्डर में न पड़। चवालीसवें और पैंतालीसवें श्लोक में इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया गया है। कहा गया है कि वेदों का विषय तो त्रैगुण्य सत-रज-तम का विषय है. तुम तो

निर्द्वन्द्व इनसे परे उठो। आत्म-ज्ञान हो जाने पर वेदों की उतनी ही आवश्यकता रह जाती है, जितनी चारों ओर पानी भरे रहने पर कुएं की।

गीता का संदेश किसी धर्म विशेष का सन्देश नहीं, धर्म-भाव भर का संदेश—ऐसे धर्म-भाव का संदेश है, जिसमें 'सोऽहं' से परे किसी भी ईश्वर को अस्वीकार करके अनुप्राणित हुआ जा सकता है। गीता-धर्म की शिक्षा तो यही हैं कि 'सोऽहं' के सिवा कोई भी ईश्वर-परमेश्वर नहीं है, फिर देवी-देवताओं तथा भूत-प्रेतों का तो कहना ही क्या है? हां, गीता सर्वसाधारण की उपासना-संबंधी आवश्यकता को स्वीकार करके अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता अर्थात् अपने आत्मिक, बौद्धिक और सामाजिक विकास के अपनी अपनी श्रद्धा के अनुकूल लोग यदि किसी को भी प्रतीक मानकर उसकी सेवा-पूजा करें, तो गीताकार ने सातवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में संसार भर में अनुपम उदारता का यह संदेश दिया है कि मैं उनका विरोध या दमन करने के बदले स्वयं उनकी उस श्रद्धा को उसी में सुदृढ़ करता हूं। देव-पूजा मूर्ति-पूजादि के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण वही है, जो गिबन के कथनानुसार रोमन्स का था, यानी यह कि सर्वसाधारण के लिए वह सत्य थी, मजिस्ट्रेटों के लिए उपयोगी और दार्शनिकों के लिए, सब देवताओं की पूजा, झूठी। गीता के देवता महात्मा गांधीजी के शब्दों में भूत-मात्र और वेदों के शब्दों में प्राण तथा प्रकाश देने वाली, आधुनिक भाषा में प्रगति, पोषक शक्तियां हैं।

गीता जगद्रूपी जगदीश्वर तथा जनता-जनार्दन, मानवता-महादेव की भक्ति-भाव पूर्वक निस्वार्थ सेवा करने का सृजनकारी संदेश देती है। समस्त-धर्म संस्थापकों के, धर्म-ग्रंथों और संगठित धर्मों के बंधनों से मुक्त होकर स्वतंत्र धर्म-भाव रखने की जिस पूर्ण स्वतंत्रता की आवश्यकता डब्ल्यू. आर. मैथ्यूज आदि पाश्चात्य धर्म-विचारक अनुभव करते हैं, वह गीता में है। अठारहवें अध्याय में समस्त उपदेश को समाप्त करके तिर-

सठवें श्लोक में अर्जुन से यह नहीं कहा गया कि अब तू मेरे धर्म में
दीक्षित हो जा। स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि 'मैंने अब तक तुझे
गुह्य से भी गुह्य ज्ञान बता दिया है, लेकिन मैं यह नहीं कहता कि तू इस
पर चल, या मेरे कहने पर इसे मान ले। मैं तो केवल इतना ही कहता
हूँ कि इस पर पूर्णतया विचार करके "यथेच्छसि तथा कुरु"। जैसी तेरी
इच्छा हो, वैसा कर। इससे अधिक स्वतन्त्रता की कोई कल्पना भी नहीं
कर सकता।

गीता की यह समुच्चय शक्ति अनीश्वरवादी कपिल को न केवल मुनि-
पद का अधिकारी मानती है, परन्तु एक मूल प्रकृति से समस्त सृष्टि के
विकास के संबंध में अर्थात् विश्व के वैज्ञानिक विश्लेषण के संबंध में उनके
समूचे शास्त्र (Pantheism-all is God or God is all) को
पूर्णतया अपना लेती है।

गीता का धार्मिक सिद्धात केवल इतना है कि समस्त विश्व में जो
कुछ है, वह एक मात्र आत्म-तत्त्व ही है और यह आत्मा घट-घट में व्याप्त
है। संसार के जगत्प्रसिद्ध लेखक बर्नार्ड शा, दर्शन की कहानी के लेखक
विल ड्यूरेण्ट तथा सर्वोच्च नोबुल पुरस्कार पाने वाले अद्वितीय विद्वान
डा. [illegible] कैरल ज्ञान-विज्ञान के जिस समुच्चय की आवश्यकता अनु-
भव करते हैं वह गीता में है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा पशु-पक्षी और
प्राणिमात्र ही नहीं, सर्वभूतहित का उपदेश देनेवाली गीता का धर्म किसी सम्प्र-
दाय या देश या काल विशेष से सीमित नहीं हैं। वह इन सीमाओं से
परे मानव-मात्र का धर्म-भाव भर है। वह धर्म-भाव जो विज्ञान-प्रज्ञावाद
और भौतिकवाद के साम्राज्य को शताब्दियों का सफलतापूर्वक सामना
करके तथा रूस की धर्म-विरोधी अत्यन्त उग्र और शक्तिशाली सरकार
के ई[illegible] अजायबघरों तथा ईश्वर-विरोधी लीग द्वारा किये गए
प्रचण्ड प्रचार को विफल करके, उन्नत मस्तक, विस्मित वदन मानव को
स्वतः अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। गीता केवल उस धर्म-भाव आत्म
ज्ञान का प्रचार करती है, जिसके बिना पाश्चात्य मानव अपनी इंद्रियों और

कामनाओं पर संयम न रखने के कारण। विज्ञान-बल से प्रकृति पर इतना अधिक आधिपत्य पाकर भी उससे लाभ उठाने के बदले भस्मासुर की तरह अपने ही वरदान से अपने को भस्मी-भूत कर रहा है! गीता-ज्ञान के बिना साइंस साम्राज्यवाद की भ्रष्ट लौंडी भर रह जाती है।

एल्डस हक्सले ने साध्य-साधन नामक पुस्तक के इक्कीसवें पृष्ठ में कहा है कि वास्तव में ऐतिहासिक सत्य यह है कि वैज्ञानिक प्रगति आक्रमणात्मक प्रवृत्ति से कभी अलग नही रही।

जार्ज वर्नार्डशा धर्म, विज्ञान और दर्शन के जिस समुच्चय की आवश्यकता अनुभव करते हैं, वह साख्य के विज्ञान और वेदान्त के दर्शन से समुच्चित गीता की विश्व-संबंधी आध्यात्मवादी व्याख्या में विद्यमान है। एल्डस हक्सले ने इसी पुस्तक के सातवे पृष्ठ पर स्पष्ट कहा है कि जब तक हम ब्रह्म-ज्ञान को, अध्यात्म-वाद को, तत्त्वमसि के सिद्धात को न मानेंगे, तब तक प्रगति की गति रुकी रहेगी। इसी के प्रभाव में पिछले पचास साल में 'वासुदेव सर्वमिति' के स्थान पर दूसरे-दूसरे देवताओं की पूजा का प्रचार हुआ है। ज्ञान की वृद्धि के बिना विज्ञान की वृद्धि व्यर्थ से भी बुरी, प्रतिक्रिया प्रतिपादित हैं। एक सौ तेईसवें, चौबीसवें पृष्ठ मे उक्त लेखक ने कहा है कि यान्त्रिक यानी वैज्ञानिक भौतिकवाद में आसुरी अर्थात् प्रति-क्रिया प्रति-पादक प्रवृत्तिया बढ़ रही हैं। इससे स्पष्ट है कि रूढ़ि, दम्भ, पाखण्ड और संगठित तथा प्रचलित धर्म-संस्थाओं की बुराइयों से रुष्ट होकर धर्म-भाव को भी धता बताना बीमारी से रुष्ट होकर बीमार की हत्या कर देना है।

विश्व की जैसी सुंदर, सर्वाङ्गपूर्ण, सनातन और युक्ति-युक्त व्याख्या गीता ने की है, वैसी समस्त पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान आज तक नही कर सका। गीता का आध्यात्मिक विकास और द्वंद्वात्मक प्रगति का विश्व-सिद्धांत डार्विन, कार्लमार्क, बर्गसो के विकासवादी और हेगेल तथा मार्क्स के द्वंद्वात्मक प्रगतिवादी सिद्धातो का सर्वोत्कृष्ट समुच्चय और उन सबकी पूर्त्ति करता है। उसमें न केवल विश्व का विकास कैसे होता है इसका,

बल्कि विश्व का विकास कैसे और क्यों होता है, इन दोनों का अकाट्य उत्तर है।

गीता के सोलहवें अध्याय में देवासुर-सम्पत्ति-विभाग में विश्व की भौतिकवादी व्याख्या के दुष्परिणामों का दिग्दर्शन कराते हुए गीता ने जो यह कहा था कि इस व्याख्या को मानने वाले लोग संसार का सर्वनाश करने के लिए उग्र कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वह भविष्यवाणी दूसरे विश्व-व्यापी महायुद्ध के रूप में हमारी आखों के सामने प्रत्यक्ष नाचा करती है। यह देवासुर-सम्पत्ति-विभाग और कुछ नहीं, मानव की वैयक्तिक और सामाजिक प्रवृतियों का प्रगति-पोषक और प्रतिक्रिया प्रतिपादक प्रवृत्तियों में किया हुआ विमल विभाजन है।

विश्व और मनुष्य-संबधी गीता के सिद्धात में संसार भर के समस्त धर्मों की इस एक समान भावना का समावेश है कि विश्वात्मा-परमात्मा का पता लगाकर उसमें लीन तद्रूप कैसे हुआ जाय? इस सिद्धात में न केवल विश्व-मनुष्य की ही व्याख्या की गई है, बल्कि विश्व और मनुष्य का पारस्परिक संबंध निश्चित करके मानव-मात्र के दैनिक जीवन का पथ-प्रदर्शन करने के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य निर्णय की ऐसी अचूक कसौटी बता दी गई है, जो मानव-ज्ञान-भण्डार में अपना सानी नहीं रखती। गीता में संपूर्ण सत्य के शुद्ध स्वरूप को स्थापित करके उसके अङ्गाङ्गों से उसका सम्यक् सबंध स्थापित कर दिया गया है।

गीता का विश्व और मनुष्य संबंधी सिद्धात नियुक्तिवाद और इच्छा अथवा आत्म-स्वातंत्र्य का भी समीचीन समुच्चय कर देता है। समस्त पाश्चात्य विज्ञान और तर्क-शास्त्र मानव को पूर्णतया नियुक्त मानता है। मानव (जाति) शास्त्र, जीव-विज्ञान, शरीर-शास्त्र, मनोविज्ञान और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या रूपी, का यह कहना है कि मानव पूर्णतया नियुक्त है, फिर भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य की भावना में इच्छा स्वातंत्र्य को देखकर वह यह तय नहीं कर पाता कि इस विरोध का मेल कैसे मिलावें। गीता का कहना है कि क्षेत्र यानी सविकार और सजीव मनुष्य देह-व्यक्त विश्व

का अंश होने के कारण उसके नियमों से नितांत नियोजित है। परंतु क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा-विश्वात्मा तथा परमात्मा का अंश होने के कारण विश्व बंधनों से मुक्त, स्वतंत्र है। और इस प्रकार जीवात्मा का संबंध विश्व और विश्वेश्वर दोनों से होने के कारण वह एक साथ नियुक्त और स्वतंत्र दोनों है।

गीता का ज्ञान न तो विज्ञान का विरोधी है, न भौतिक उन्नति का, और न वह संसार से विरक्त होने का उपदेश देता है। गीता में बार-बार ज्ञान के साथ-साथ विज्ञान पर भी जोर दिया गया है। गीता में तो ब्रह्म-ज्ञान तक के लिए विज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता बताई है। गीता में धर्म अविरोधी समस्त कामनाओं की संपूर्ण तृप्ति का उपदेश है। सातवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में स्वयं भगवान् ने यह कहा है कि समस्त प्राणियों में धर्म-अविरोधी कामना और काम-राग विरहित बल अर्थात् शक्ति मैं ही हूं। गीता-धर्म में धर्म-मर्यादा के भीतर अर्थोपार्जन करके संयम के साथ समस्त धर्म अविरुद्ध कामोपभोग करने की आज्ञा है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में तो भोग के बिना योग हो ही नहीं सकता। गीता-मार्ग पर चलने से इहलोक-परलोक दोनों सध जाते हैं। एक अंग्रेजी शब्द-चमत्कार All this and heaven too, के अनुसार उसमें सब सुखोपयोग करते हुए भी स्वर्ग-प्राप्ति का, प्रगति-प्रवाह की पूर्ति का, आर्थिक उन्नति का राज-मार्ग है। उसमें ब्रह्मानन्द का और विषयानन्द का सर्वोत्कृष्ट समुच्चय है। उसमें धर्मपूर्वक (विधि तथा कानून सम्मत साधनों से) अर्थ-संपत्ति उपार्जित करके अपनी प्रगति-पोषक संपूर्ण मनोकामनाओं को पूरा करते हुए वैयक्तिक स्वार्थ तथा पार्थक्यभाव से मोक्ष पाने का विधान है।

गीता-मार्ग संसार की समस्याओं से संतप्त होकर संन्यास लेने का मार्ग नहीं है। वह तो कर्म-क्षेत्र में कूदकर जीवन पर्यन्त, परिणामों की कुछ भी चिन्ता न करते हुए, प्राणों तक की परवाह न करते हुए, अपना कर्त्तव्य-पालन करने का मार्ग है। जिस गीता के ज्ञान से प्रेरित होकर अर्जुन ने

जीवन भर 'न दैन्यं न पलायनम्' की प्रतिज्ञा निभाई, वह संकटों के सामने और संसार के सघर्षों से पलायन की शिक्षा कैसे दे सकती है? अर्वाचीन समय में योगिराज अरविन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाधी, सर्व पल्ली राधाकृष्णन, थियोसोफिस्ट मि० ब्रुक्स आदि अनेक मनीषियों ने गीता की कर्मयोग प्रधान व्याख्या की है। गीता के शाकर-भाष्य के अध्याय दो और तीन के उपोद्धात से भी यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि उनसे पहले गीता की जितनी टीकाएं की गईं, वे सब की सब कर्म-योग-प्रधान थी। लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य में निश्चित रूप से समस्त शकाओं का समुचित समाधान करके गीता के विषय में संन्यास और कर्म-योग विषयक विवाद का सदा के लिए अन्त कर दिया है।

गीता-पथ से विपथ हो जाने से ही हमारी यह दुर्दशा हुई। यदि हम अब भी उस पर चलें तो, गीतामृत में, इस सनातन-सञ्जीवन-शास्त्र में इतनी अक्षय शक्ति है कि हम फिर स्वतन्त्र, सम्पन्न, समुन्नत, तथा समृद्धिशाली हो सकते हैं और समस्त संसार को सर्वभूतहित के सिद्धात का संदेश देकर फिर से जगद्गुरु के आसन पर आसीन हो सकते हैं। हिन्दू जाति और भारतीय राष्ट्र के लिए ही नहीं समस्त मानव-समाज के लिए गीता का संदेश सजीवन संदेश, प्रगतिशील और क्रातिकारी सन्देश है। कृष्ण और गीता का नाम निकाल कर गीता का यह सदेश किसी भी धर्म के मनुष्य के सामने रखा जाय, तो उसे इस संदेश को मानने में तनिक भी आपत्ति नहीं होगी, वह उसका सहर्ष तथा सोत्साह स्वागत करेगा। और नाम-रूप को सदैव परिवर्तनशील मानने वाले गीता-धर्म को इस नाम-रूप से रत्ती-मात्र भी आसक्ति नहीं होगी, यदि उसके त्याग से मानव समाज समुन्नति को प्राप्त हो।

गीता का गौरव इसीमें है कि उसके समस्त सत्य तथा उसके समस्त सिद्धान्त सनातन-सञ्जीवन और समुच्चयात्मक, सर्वदा-सर्वत्र और सर्वथा क्रातिकारी प्रगतिशील, तथा समुन्नायक हैं। गीता का गौरव इसीमें है कि उसका सन्देश अभय और अमरता का सन्देश है। गीता कहती है, 'जो-

जन्म लेता है, उसका मरना निश्चित है और मरने वाले का पुनर्जन्म भी उतना ही निश्चित है, फिर जब जन्म और मृत्यु दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू मात्र हैं, तब डर किसका ? तब मृत्यु को भी क्या चिन्ता ? गीता कहती है कि कर्त्तव्य-पालन करते हुए मारे भी जाओगे, तो सबके सामने प्रगति-पोषक शहीद होने का स्वर्गीय सुख देने वाला आदर्श छोड़ जाओगे और विजयी हुए, तो सफलता का सुख भोगोगे। हिन्दी के राष्ट्र-कवि मैथिलीशरणजी गुप्त के शब्दों मे गीता समस्त युगों और समस्त देशों के अकर्मण्यों को सन्देश देती है।

"पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो।"

पुरुषार्थ करते हुए निराशा-निशाचरी के चङ्गुल मे फंस जाने पर गीता का प्रबल प्रोत्साहन है—

"नर हो, न निराश करो, मन को'

और यदि प्रगति प्रवर्द्धक प्रयत्नों में मानवता-महादेव तथा जनता-जनार्दन की सेवा में प्राणों पर आ बने, तो गीता का अमोघ आश्वासन बल देता है—

"विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी।"

बेकन के शब्दों में, गीता का मनुष्य—दो पैरों पर खड़ा हुआ पशु नहीं है, अमर देव है। गीता का गौरव यह है कि जिस काल में घड़ी, थर्मामीटर, दूरबीन, बैरोमीटर, सूक्ष्मदर्शीय आदि के आविष्कारों का सुराग नहीं मिलता, उस समय में विश्व और मनुष्य की उत्पत्ति, विकासादि के सम्बन्ध में वे सिद्धान्त ढूढ निकाले, जो आज इन सब आविष्कारों और यन्त्रों के बाद भी इस समय तक के समस्त सिद्धान्तों में शिरोमणि हैं। गीता का गौरव इसमें है कि इस दर्पण में जो अपना स्वरूप देखता है, वही उसमे अपना प्रतिबिम्ब पाता है; अर्थात् गधा दर्पण में अपना स्वरूप देखकर क्रुद्ध हो तो दर्पण का दोष नहीं उसमें तो गधे को गधे जैसा और फरिश्ते को फरिश्ते जैसा रूप दीखेगा ही। जब समस्त विज्ञानों के आविष्कारों का लोग मनोनुकूल अर्थ व उपयोग करते हैं, तब

इसमें है कि बौद्ध, जैन, सिक्ख सब उसके पुनर्जन्म के सिद्धांत को मानते हैं। बाइबिल तथा कुरान शरीफ भी उससे इन्कार नहीं करती। स्वयं यीशु ने तो यहा तक कहा कि जान बैपटिस्ट की देह में नबी ऐलीजाह ने ही जन्म लिया है। गीता के सिद्धातों की सर्वमान्यता के ऐसे बीसियों-सैकड़ों प्रमाण हैं। किंबहुना, जब तक मानव को पीड़ा व मृत्यु का भय रहेगा, तब तक वह गीतोक्त वैज्ञानिक धर्म और धार्मिक विज्ञान का भूखा रहेगा।

जितनी सहस्रों बरस पहले थी।

इन प्रश्नों के उत्तर पर ही, विश्व-सम्बन्धी धारणा पर ही मनुष्य का स्वभाव और चरित्र निर्भर रहता है। इस बात को लगभग सभी प्राच्य और पाश्चात्य पंडित ज्ञानी मानते हैं कि मानव के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का सुव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक संगठन करने के लिए जीवन के अर्थ, उद्देश्य व स्वरूपोत्पत्ति आदि का ज्ञान अनिवार्यतः आवश्यक है। डब्ल्यू० के० फोर्ड नामक एक विद्वान् का कहना है कि संसार के संबध में मनुष्य की जैसी धारणा होती है, उसके आचार-विचार भी वैसे ही होते हैं। जान लैंगडन डैवीस नामक लेखक ने अपनी "विश्व और मनुष्य" नामक पुस्तक में विश्व-संबंधी पाश्चात्य कल्पना के विकास का इतिहास देकर भली-भांति यह दरसा दिया है कि किस तरह जैसे-जैसे यूरोपीय लोगों के विश्व-संबंधी विचार बदलते गए, वैसे-ही-वैसे उनके आचार-विचार तथा धर्म-विश्वास भी बदलते गए। संक्षेप में आदिम मनुष्य, जङ्गली मनुष्य, मध्यकालीन मनुष्य और अर्वाचीन मनुष्य के उदाहरण देकर उनका कहना है कि आदिम मनुष्य को पशु अवस्था में विश्व की कोई कल्पना नहीं होती, अतः उस अवस्था में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भी कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जङ्गली अवस्था में मनुष्य अपनी वासनाओं को ही सब कुछ समझता है; इसलिए उसका ईश्वर भी उसकी वासनाओं की पूर्ति करने वाला दई-देवताओं के रूप में होता है। मध्यकालीन मनुष्य का इतिहास विश्व-संबंधी सनातन प्रश्नों की खोज का साहसपूर्ण प्राप्ति का इतिहास है। आज का पाश्चात्य मनुष्य विश्व के संबंध में कोई निश्चय नहीं कर पाता, इसलिए उसके आचार-विचार संबंधी विश्वास भी अनिश्चित हैं। टाल्स्टाय ने भी अपने 'अन्ना करीना' नामक सुप्रसिद्ध उपन्यास में यह कहा है कि मनुष्य की जैसी दुनिया होती है, उसीके अनुकूल उसके आचार-संबंधी विचार होते हैं। उदाहरणार्थ अपनी दुनिया में रहनेवाली वेश्या सतीत्व के सात्विक सुख को, दिव्य आनंद को क्या जाने? अपनी दुनिया में रहने वाले शासक शासितों के दुःखों को

प्रकृति दूसरी जीव स्वरूपी है। आत्मा-परमात्मा-सर्वात्मा ही सब योनियों और भूतों का धारण करने वाला तथा समस्त जगत् के प्रभव-प्रलय का कारण अर्थात् विकास-चक्र का कारण है। इससे परे अर्थात् अलग और कुछ नहीं है। यह समस्त विश्व मुझ आत्मा में उसी तरह पिरोया हुआ है, जिस तरह मणि-गण सूत के धागे मे पिरोये हुए रहते हैं। इन श्लोकों में गीता ने पहले सॉख्य-शास्त्र के अनुसार एक ही मूल अखण्ड, निरवयव, सर्वत्र व्यापी, अव्यक्त मूल प्रकृति से समस्त विश्व का विकास कैसे हुआ, यह बताया है और फिर वेदात के अद्वैत-आत्मा में साख्य के प्रकृति-पुरुष के द्वैत-द्वंद्व का समुच्चय करके, प्रकृति-विश्व के द्वंद्वात्मक प्रगतिवाद को प्रतिपादित करते हुए, उससे परे जाकर विश्व का विकास क्यों होता है, इसका समुचित और त्रिकालाबाधित, सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा सही, उत्तर दिया है।

गीता-ज्ञान अनेक में एक को देखने की क्रिया है और गीता-विज्ञान उस एक ही से अनेक कैसे हुए, यह देखने की क्रिया है। हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में से नाना नाम-रूपी विश्व में न्याय-शास्त्र चौबीस मूल-तत्त्व देखता है। वैशेषिक सात, योग तीन, साख्य दो और वेदात एक। इसीलिए वेदात को वेदात यानी ज्ञान का अंत—पराकाष्ठा कहा जाता है और उसके बाद साख्य सर्वमान्य माना जाता है। गीता से विश्व का विकास कैसे हुआ, इस संबध में यानी विज्ञान की दृष्टि से कपिल मुनि को सर्वोत्तम वैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक-सिद्धात को, विकासवाद के सिद्धात को माना है और विश्व का यह विकास क्यों हुआ, इस प्रश्न के जिस उत्तर को विज्ञान न तो दे ही सका है, न दे ही सकता है, उसका उत्तर वेदात के अद्वैत — आत्मा-सर्वात्मा-परमात्मा से लेकर साख्य के द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद के समुच्चय ने दिया है। इस प्रकार गीता का विश्व-संबंधी आध्यात्मिक सिद्धात विकासवाद और द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद दोनों को पूर्णतया स्वीकार करके, इनसे परे जाकर विश्व का विकास क्यों हुआ, इस प्रश्न का उत्तर भी दे देता है, जिसे विकासवाद और द्वन्द्वात्मक प्रगति-

वाद नहीं दे पाते। विकासवाद और द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद को पूर्णतया स्वीकार करने के कारण ही गीता प्रकृति और उसके विकास तथा उसकी प्रगति के सबंध में वेदातियों के ब्रह्म-सत्य सिद्धात को ग्रहण करती हुई भी जगन्मिथ्या, अथवा माया - मिथ्यात्ववाद के सिद्धात को नही मानती। अपना यह मत गीता ने उपर्युक्त चौथे-पाचवें श्लोक में पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है।

इसे समझने के लिए पहले कपिल मुनि के विश्व-विकास सबंधी सिद्धात को लीजिये। कपिल मुनि के साख्य-शास्त्र का कहना है कि पहले मूल प्रकृति में एक से अनेक होने की इच्छा पैदा हुई। इस इच्छा अथवा बुद्धि को वे महत् के नाम मे पुकारते हैं। इस इच्छा अथवा बुद्धि के उत्पन्न होते ही प्रकृति की साम्यावस्था तो भग हुई, जड़ प्रकृति म गति तो आ गई, परतु वह रही एक ही। इस पृथकता अर्थात् अनेकता की उत्पत्ति अहकार से हुई। पहले मूल प्रकृति में एक गुण था आकाश (space)। इस एक गुण से दूसरे द्विगुण सम्पन्न गुण अग्नि का विकास हुआ। अग्न से तीसरे गुण जल का, जल से चौथे गुण वायु और अन्त में पाचवें गुण पंचम गुण सम्पन्न गुण पृथिवी का विकास हुआ। इन्हीं से युगपत् अर्थात् एक साथ, एक ओर मन सहित पाच कर्मेन्द्रियों और पाच ज्ञानेन्द्रियों का— ऐन्द्रिय सृष्टि के ग्यारह तत्त्वों का विकास हुआ और दूसरी ओर पंच-तन्मात्राओं अर्थात् ऊपर गिनाये गए पाच स्थूल महाभूतों के सूक्ष्म रूपों और विषयों से निरेन्द्रिय सृष्टि के पाच तत्त्वों यानी उपर्युक्त स्थूल महा-भूतों का विकास हुआ। इस प्रकार कपिल मुनि की साख्य-कारिका प्रकृति के तत्त्वों की कुल सख्या तेईस और मूल प्रकृति को मिलाकर इन सबकी सख्या चौबीस बताती है। परतु विश्व के विकास की विश्लेषणात्मक आव-श्यकता पूरी हो जाने पर इन तत्त्वों को इन तीन वर्गों में बाटा जाता है, पहला प्रकृति, अर्थात् मूल-प्रकृति और दूसरा प्रकृति-विकृति अर्थात् उस प्रकृति की एक से अनेक होने की इच्छा यानी बुद्धि अथवा पहलू तथा उस इच्छा के अनुसार एक से अनेक का भेद उत्पन्न करने वाला अहकार

(अहंभाव) तथा इस अहकार से स्थूल भूतों के तंन्मात्मा स्वरूप पाच विषयों को शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंधादि अर्थात् सात महदादि तत्त्व। मूल प्रकृति-विकृति यानी प्रकृति के माने गए विकार ! तीसरा मन सहित ग्यारह इन्द्रिया-और पाच स्थूल महाभूत। वर्ग विकृति, विकृति अर्थात् इनके विकारों के सोलह विकारों का है।

इस वर्गीकरण में से महदादि सात तत्त्वों को प्रकृति के साथ गिनाकर वेदान्ती अष्टधा-प्रकृति गिनाते हैं, परंतु प्रकृति स्वयं अपना प्रकार यानी विकार नहीं हो सकती, इसलिए गीता को वेदान्तियों का यह वर्गीकरण मान्य नही, इसीलिए उसने उपर्युक्त श्लोक में महदादि के साथ मूल-प्रकृति को न गिनाकर मन को गिनाया है और इस प्रकार सुकृति के आठ प्रकार गिनाये हैं। परन्तु मन, जो विकृति-विकृति है, उसे लोग कहीं प्रकृति-विकृति न समझ बैठे, इसलिए यद्यपि वेदात के वर्गीकरण ने साख्यो के वर्गीकरण का मेल (सामंजस्य) करने के लिए मन को गिना तो दिया, तथापि आगे तेरहवें अध्याय के पाचवे श्लोक मे मन के वर्गीकरण के संबंध में लोगों मे इस भ्रम के उत्पन्न होने की सभावना को दूर करने के लिए अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पञ्च महाभूत तथा मन सहित ग्यारह इन्द्रियों और पाच इन्द्रिया गोचर, पंच महाभूत। इस प्रकार साख्य-कारिका के पूरे चौबीसों तत्त्व गिना दिये हैं।

इस तरह पृथिवी के उत्पन्न हो जाने पर उसके सत, रज, तम यानी वायु (गैस) द्रव और ठोस ये तीन गुण रह गए। इन्हीं गुणों के कारण पृथिवी सगुण अर्थात् त्रिगुणात्मक कही जाती है; अर्थात् पृथिवी के बाद पृथिवी से उत्पन्न होने वाली बाकी सब सृष्टि इन तीन गुणों के सम्मिश्रण का फल है। त्रिधात इन तीनों का सम्मिश्रण अनन्त होने के कारण इन तीन गुणों से ही नाम-रूपात्मक लाखों-करोड़ों भूत और उनकी योनिया उत्पन्न हुई। पृथिवी की उत्पत्ति के बाद की सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम साख्य-कारिका में नहीं है। उसका वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् (२—१) में इस प्रकार दिया हुआ है :—पृथिवी से वनस्पति, वनस्पति से अन्न और

अन्न से पुरुष यानी चेतन प्राणी उत्पन्न हुआ।

साख्य-शास्त्र के विश्व की उत्पत्ति और विकास के सिद्धात का अब तक जो वर्णन किया गया, वह जड़ाद्वैतवाद है। अर्थात् एक ही मूल-प्रकृति से समस्त विश्व की उत्पत्ति और विकास का सिद्धात भौतिकवाद का सिद्धान्त है, परन्तु इस सिद्धान्त से विश्व के विकास की व्याख्या पूर्ण नहीं होती। यह सवाल रह ही जाता है कि जड़ (प्रकृति) को गति कैसे मिली? जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? जड़ मे चेतन कहा से आ गया? साख्यों की मूल प्रकृति को एक से अनेक होने की जो इच्छा हुई, वह क्यों और कैसे हुई? इन प्रश्नों का उत्तर देकर विश्व के विकास की व्याख्या को पूरा करने के लिए साख्य-शास्त्र प्रकृति से परे एक पच्चीसवें तत्त्व की कल्पना करता है और कहता है कि यह पुरुष-तत्त्व ही समस्त ऐन्द्रिय-सृष्टि की उत्पत्ति का, चेतन के सजीव होने का कारण है। जब मूल प्रकृति का सयोग पुरुष के साथ होता है, तभी सजीव सृष्टि का आरभ होता है, इस प्रकार साख्य-शास्त्र के मूल तत्त्व पुरुष और (मूल) प्रकृति दो ही रह जाते है। बाकी तेईस तो वैज्ञानिक विवेचन की विश्ले-षणात्मक आवश्यकता के लिए गिनाये जाते है, परंतु वास्तव में मूल-तत्त्व नहीं हैं। वे तो प्रकृति के विकार या उस विकार के भी विकार हैं।

इसी को साख्यों का द्वैतवाद कहते हैं। प्रकृति और पुरुष इन दोनों के द्वद्व से ही अन्त में विश्व की प्रगति की समस्त प्रक्रिया होती है। इस तरह विश्व के विकास में जड़ में गति कैसे उत्पन्न हुई, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रकृति और पुरुष के द्वंद्व का, द्वद्वात्मक प्रगति के सिद्धात का प्रतिपादन किया गया। इस तरह साख्य के विकासवाद और द्वद्वात्मक प्रगतिवाद से विश्व का विकास कैसे हुआ, इस प्रश्न का तो पूर्ण और समुचित उत्तर मिल गया, लेकिन फिर भी यह प्रश्न खम ठोकता खड़ा रहा कि यह सब विश्व-प्रपञ्च, विकास और प्रगति का झगड़ा, पुरुष और प्रकृति का द्वद्व होता क्यों है?

साख्य शास्त्र अथवा विकासवाद और द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद यानी

समस्त विज्ञान इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे पाता। इसका उत्तर वेदान्त ने दिया और इसी उत्तर से आध्यात्मिक विकासवाद के सिद्धात की सृष्टि हुई।

वेदान्त का कहना है, जिसे गोता भी मानती है और जिसे गीता ने उपर्युक्त पाचवें श्लोक मे स्पष्ट कह दिया है कि प्रकृति और पुरुष अनादि तो हैं, परन्तु वे स्वतंत्र और स्वयंभू नहीं हैं। वे एक ही परमात्मा की दो प्रकृतियां हैं—एक परा प्रकृति यानी पुरुष, दूसरी अपरा यानी मूल प्रकृति। अपरा प्रकृति ऊपर कहे अनुसार आठ प्रकार की है। परा प्रकृति वह चेतन और जीव-तत्त्व-जीवात्मा है, जिससे समस्त चेतन सृष्टि की उत्पत्ति और विकास होता है। इस सिद्धान्त से एक तो ज्ञान की, विश्व के समस्त नानात्व यानी विज्ञान के एकीकरण की वह क्रिया, जो सांख्य मत में दो पर जाकर अटक जाती है, पूर्ण हो जाती है दूसरे उससे विश्व की उत्पत्ति और विकास क्यों होता है, इसका निश्चित और समाधानकारक उत्तर मिल जाता है।

आध्यात्मिक प्रगतिवाद के इस सिद्धान्त को यों समझिये। इसमें प्रकृति यानी भौतिकवाद और पुरुष अर्थात् अधिदेवतावाद के द्वन्द्वों का समुच्चय है। द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार भौतिकवादियों का वाद हुआ—प्रकृति ही सब कुछ है। अधिदेवतवादियों ने इसका प्रतिवाद किया—प्रकृति नहीं, पुरुष ही सब कुछ है। चेतन के बिना जड़ प्रकृति कर ही क्या सकती है? ये असंख्य पुरुष ही असंख्य देवताओं के रूप में जड़ को प्रेरित करके समस्त विश्व का संचालन करते हैं। इस प्रकार भौतिकवादी, अधिदेवतवाद का निषेध करते हैं और अधि-देवतवादी भौतिकवाद के दावे का प्रतिवाद करते है। मैटर को ही सब कुछ मानने वाले माइण्ड को मानने से इन्कार करते हैं, माइण्ड को मानने वाले मैटर को नहीं मानते। परमात्मा में इन दोनो निषेधों का निषेध अर्थात् उनका समुच्चय होता है, उसमे प्रकृति-पुरुष दोनों के गुण तो रहते ही हैं, एक नया गुण भी होता है, जो इनसे परे है—निर्गुण-

त्मक। इस प्रकार गीता के कथनानुसार, प्रकृति और पुरुष दोनों ही परमात्मा की दो प्रकृतियां हैं। एक परा, दूसरी अपरा। इन दोनों के जोड़े से ही विश्व-चक्र चलता रहता है।

आध्यात्मिक विकास तथा द्वन्द्वात्मक प्रगति के इस सिद्धान्त को सच्चिदानन्द की लीला के रूप में देखने पर इस सबसे अन्तिम प्रश्न का भी सुन्दर और आनन्ददायी उत्तर मिल जाता है कि अव्यक्त में व्यक्त कहां से आया? सगुण से निर्गुण कैसे हुआ? आध्यात्मिक विकास-वाद का कहना है कि यह सब सच्चिदानन्द की लीला है। एक ही सच्चिदानन्द पहले वियोग का आनन्द लेने के लिए, अपने पहलू में दर्दे दिल पैदा करने के लिए अपनी एक विभूति सत् अर्थात् अपनी अपरा यानी कनिष्ठ जड़ प्रकृति में छिप जाता है। फिर अपनी चित् शक्ति यानी परा अर्थात् श्रेष्ठ शक्ति पुरुष प्रकृति से इस जड़ प्रकृति को चैतन्य में विकास करके उसे अपनी असली स्वरूप को ढूंढने के लिए प्रेरित करता है। वियोग के बाद संयोग का आनन्द लेने के लिए और उसी अन्तः प्रेरणा से चैतन्य विकसित होते-होते मनुष्य होजाता है। मनुष्य का विकास होते ही प्रकृति और मानव का द्वन्द्व यानी संघर्ष प्रारम्भ होजाता है, जिसमें मानव यानी जीवात्मा प्रकृति यानी जगत् पर विजयी होकर परमात्मा में समुच्चित हो, नर से नारायण होकर, अपने असली स्वरूप को ढूंढकर, आंख-मिचौनी के इस खेल में सफलता प्राप्त करके उसी परमात्मा में लीन होजाता है। ऐसा होने पर विश्व की उत्पत्ति उसके विकास तथा उसकी द्वन्द्वात्मक प्रगति की प्रक्रिया का यह चक्र पूरा हो जाता है। प्रकृति-पुरुष जीव-विश्व दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार एक बार यह आंख-मिचौनी का खेल समाप्त होने पर फिर से आरम्भ हो जाता है। इसी तरह सच्चिदानंद बारबार यही लीला आत्मानंद के लिए करता रहता है। क्योंकि आनन्द उसका स्वभाव है। गीता के आठवें अध्याय के तीसरे श्लोक में ब्रह्म को परम अक्षर कहकर उसके स्वभाव को अध्यात्म बताया गया है। इस

प्रकार विश्व के विकास और विनाश की लीला को, प्रकृति की समस्त प्रक्रिया को, अध्यात्मवादी प्रक्रिया बताया गया है। यह अध्यात्मवादी विश्व-प्रक्रिया प्रकृति के उत्पत्ति काल से लेकर विकासात्मक प्रगति की ओर प्रकृति से पुरुष, और पुरुष से परमात्मा की ओर, विश्व से मनुष्य और मनुष्य से विश्वेश्वर होने की ओर, उन्नति की ओर होती है। यानी वह प्रगतिशील है। जड़-चेतन दोनों प्रकार के जगत् में अस्तित्व-मात्र का जो आनन्द होता है, वह सत्-चित् दोनों के आनन्दमय होने का पूरा प्रमाण है। जड़ सत् यानी प्रकृति से चित् यानी चेतन के विकास की, चेतन से मनुष्य और मनुष्य से परमेश्वर में लीन होने की समस्त प्रक्रिया प्रगतिशील तथा समुन्नत और समुच्चय शील एवं गीता के शब्दो में वह उत्स-जनकारी है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सच्चिदानन्द जब अपनी यह लीला प्रारम्भ करता है, तो अपनी चिच्छक्ति से घनीभूत होजाता है, अर्थात् मूल प्रकृति रूप में छिप जाता है। उसीसे अपने को खोजने की प्रक्रिया में जीवन का तथा जीवन से मन-बुद्धि और उनसे परे की शक्ति आत्म-ज्ञान का विकास होता है।

इस प्रकार सातवे-आठवें अध्यायों में विश्व की उत्पत्ति और उसके विकास के सम्बन्ध में प्रगतिशील आध्यात्मिक विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग के नाम से, विश्व-ब्रह्म के पिण्ड से मनुष्य के विकास का विवेचन किया गया है। इस अध्याय के पहले श्लोक से लेकर छठवें तक क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की व्याख्या कर दी गई है। पहले ही श्लोक में यह कहकर कि यह मानव-शरीर ही क्षेत्र है और जो इसे जानता है, उसे ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं, दूसरे में यह स्पष्ट कर दिया है कि सब शरीरों में क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ। यानी अलग आत्माएं नहीं एक ही आत्मा सर्वत्र व्यापक है और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का यह ज्ञान ही ब्रह्म-ज्ञान है। तीसरे में यह कहा है कि यह क्षेत्र क्या, किस प्रकार का और किन-किन विकारों वाला है; उसमें भी किससे क्या होता है, तथा क्षेत्रज्ञ कौन है और उसका क्या प्रभाव है।

चौथे मे यह कहा गया है कि यह सब मैं उस वेदान्त सूत्र के आधार पर बताता हूँ, जिसमें कार्य, कारण, सम्बन्ध निश्चित करने में सब बातें प्रतिपादित की गई हैं। अन्त में पाचवें, छठवें में संक्षेप मे क्षेत्र और उसके विकारों के दृष्टान्त दे दिये गए हैं। कहा गया है कि पृथिवी आदि पाच स्थूल महाभूत, अहंकार महत् (बुद्धि या इच्छा) अव्यक्त प्रकृति, दस सूक्ष्म इन्द्रिया और एक मन तथा पाच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्धादि विषय ये पाच सूक्ष्म भूत तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात प्राण आदि का व्यक्त व्यापार और धृति यानी धैर्य इन इकत्तीस तत्त्वों के समुदाय को विकार कहते हैं। पाचवे श्लोक में अर्थात् इन्द्रियों के विषय पाच सूक्ष्म भूतों की गिनती तक साख्य-शास्त्र के प्रसव समेत पच्चीस तत्त्वों मे शेष चौबीस तत्त्व अर्थात् मूल प्रकृति-विकृत तथा विकृति-विकृति सभी तत्त्व आ गए हैं। छठवें श्लोक में इच्छा, द्वेष सुख, दुःख इन चारों मनोधर्मों का मन मे समावेश हो जाने के कारण उन्हें अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु चूंकि कणाद ऋषि के अनुयायी इन्हें आत्मा के धर्म मानते हैं और इनको आत्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ का धर्म मान लेने से यह सवाल रह जाता है कि इनका समावेश क्षेत्र में होता है या नहीं, उसे हल करने के लिए इनको क्षेत्र के लक्षणों मे गिना दिया है और इस प्रकार यह सकेत कर दिया है कि समस्त द्वन्द्व-क्षेत्र मे साम्मलित हैं। यह दिखाने के लिए कि इन सब तत्त्वों का समूह ढेर अथवा योगफल भी जीवात्मा नही हो पाता, संघातकी गणना भी क्षेत्र मे कर दी गई है और चूंकि केवल संघात से स्थायित्व नहीं होता, इसलिए धृति अर्थात् इन सबकी दृढ़ता स्थिरता को भी क्षेत्र में गिनाया गया। इस प्रसङ्ग में जिस चेतना शब्द का प्रयोग है उसका अर्थ जीवितावस्था की चेष्टा जड़ देह में प्राणादि के जो व्यापार दीख पड़ते हैं, वही हैं। जिस चैतन्य अथवा सच्चिदानन्द को चिच्छक्ति से जड़ देह में यह चेतना यानी प्राणों के व्यापार की उत्पत्ति होती है, वह क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्रज्ञ के मानी हैं जो क्षेत्र का ज्ञाता उसका द्रष्टा हो। दृश्य स्वयं अपना

द्रष्टा नहीं हो सकता, कोई भी अपने कन्धों पर नहीं चढ़ सकता, इस न्याय से यह क्षेत्रज्ञ भौतिक क्षेत्र से अलग अर्थात आत्मा है। इस प्रकार जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है, इस तत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। जैसे मनुष्य की देह यानी पिंड, विश्व यानी दृश्य, बाह्य और भौतिक जगत् का अंश है, वैसे ही उस पिण्ड में रहने वाला आत्मा भी ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मा का अंश और तद्रूपा है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस विवेचन द्वारा पाश्चात्य विज्ञान जिस व्यक्तित्व की व्याख्या अभी तक नहीं कर पाया है, उसकी सर्वाङ्ग-पूर्ण व्याख्या हो जाती है। इस व्याख्या के अनुसार मनुष्य विश्व और विश्वेश्वर के बीच की शृङ्खला विकास-चक्र का मध्य बिन्दु है। इसी अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा दोनों अनादि हैं और समस्त गुण और विकार प्रकृति के हैं, पुरुष के नहीं। इक्कीसवें श्लोक में यह कहकर कि पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित होकर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है और प्रकृति के गुणों का यह संयोग ही पुरुष को भली-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होता है, बाईसवें में कहा गया है कि इस देह में प्रकृति के गुणों के समीप बैठकर उन्हें देखने वाले, उनका अनुमोदन करने वाले, उन्हें बढ़ाने वाले और उनका उपयोग करने वाले पुरुष को ही इस देह में पर-पुरुष महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। इस प्रकार सांख्य और वेदान्त का मेल कर दिया है। यह बता दिया है कि जिसे सांख्य पुरुष कहते हैं, वह वास्तव में आत्मा ही है। सारांश यह कि विश्व की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में गीता का सिद्धान्त यह है कि एक ही सत्य सनातन आत्मा-परमात्मा से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है।

सच्चिदानन्द की लीला के लिए, अथवा विश्व-नाटककार, कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतल में व्यंजना से उसका बहुत ही हृदय-ग्राही वर्णन कर दिया है और इसलिए उस नाटक का नाम भी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' रखा गया है। देखिए कण्व ऋषि के आश्रम में शकुंतला का जन्म। यानी प्रकृति की उत्पत्ति अणु कणों से हुई। शकुंतला-रूपी प्रकृति

का दुष्यन्त रूपी पुरुष से सयोग होते ही नाटक का प्रारम्भ। पुरुष-प्रेम में परिपूर्ण प्रकृति उसमें इतनी आसक्त हो जाती है कि उसे परमेश्वर का ध्यान तक नहीं रहता। दुर्वासा ऋषि के आगमन की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। यानी प्रकृति-नटी पुरुष के संयोग से सृष्ट्युत्पत्ति करने की प्रक्रिया में परमेश्वर को भूल जाती है। भौतिकवादी (प्रकृति वादियों को), शकुंतला की, इसी भूल का यह अभिशाप अर्थात् दुष्परिणाम होता है कि दुष्यन्तरूपी पुरुष भी शकुन्तलारूपी प्रकृति को भूल जाता है। यानी विश्व-नाटक की प्रकृति सृजन की प्रक्रिया में ही जब पुरुषोत्तम के अस्तित्व को भूल जाती है, तब उसी के दुष्परिणामस्वरूप पुरुष ने प्रकृति को अस्वीकार कर दिया है। पुरुष से प्रकृति का संयोग छूटने पर प्रगति की प्रक्रिया का प्रवाह रुक जाता है; अर्थात् सृजन-कार्य बन्द होकर निग्रहण का कार्य, विश्व नाटक के दूसरे चक्रार्ध का प्रारम्भ होता है। प्रकृति अर्थात् विश्व-जीवन इसलिए दुःखान्त होता है; यानी इसी भूल से मनुष्य के दुःखों का प्रारम्भ होता है। प्रकृतिवादी जब परमेश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्य की अवहेलना करते हैं, विषय-भोगों में बुरी तरह आसक्त हो जाते हैं, तभी समाज के जीवन-मुक्त-पुरुष उससे विरक्त होते हैं। शकुन्तला से दुष्यन्त का संयोग होने तक कर्म-काण्ड यानी पूर्व मीमांसा है। इसी के फलस्वरूप दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को अस्वीकार करना उत्तर मीमांसा अर्थात् सन्यास है। दोनों अर्ध सत्य हैं। पूर्ण सत्य निष्काम कर्मयोग है। अध्यात्मवाद की भाषा में इसे ही यों कहते हैं कि पहले पुरुष अर्थात् आत्मा-परमात्मा-परमेश्वर प्रकृति में मिलकर अपने को भूल जाता है, फिर निग्रहीत होकर उसी प्रकृति में मनुष्यरूप से उत्सृजित होने पर ही प्रकृति की आत्मा को, अपने स्वरूप को पहचान लेने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। अर्थात् शकुन्तला को एक बार अस्वीकार कर देने के बाद शाप-मुक्ति होने पर जब दुष्यन्तरूपी पुरुष का शकुन्तलारूपी प्रकृति के साथ फिर संयोग होता है, तब फिर विकास और प्रगति की प्राप्ति का प्रारम्भ होता है। इसी तरह विश्व-नाटक का

यह विकास-चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस विकास-चक्र का आधा भाग यानी प्रकृति से मनुष्य के रूप तक और मनुष्य से परमेश्वर के रूप तक का विकास होने का प्रवाह प्रगतिशील तथा सृजनकारी होता है और जब यह चक्रार्ध पूरा होजाता है यानी जब मनुष्य प्रकृति में छिपे हुए सच्चिदानन्द अपने को खोज लेता है तब प्रगति का प्रवाह पलटकर प्रतिक्रियावादी हो जाता है; यानी फिर सच्चिदानन्द अपने को प्रकृति मे छिपाना प्रारम्भ कर देता है। सच्चिदानन्द के अपने को अपने प्रकृति रूप में छिपाने के इस चक्रार्ध को निग्रहण कहते हैं। वह प्रतिक्रियावादी होता है, अर्थात् परमेश्वर अथवा आत्मा के प्रकृति रूप में पलटने की प्रक्रिया प्रगति के प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है। अव्यक्त आत्मा ही स्वयं दृश्य जगत् रूपी विश्व में व्यक्त होकर विश्व मूर्ति होता है और विश्वतोमुख होकर सब सुख-दुःखों का, वियोग, वेदना और संयोग के सुख का, अनुभव करता है, उन्हें भोगता है और फिर अपने व्यक्त स्वरूप को समेटकर अव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार गीता के विश्व और मनुष्य में आत्म-तत्त्व ही अक्षर है, शेष सब, समस्त व्यक्त जगत् समस्त नाम-रूप क्षर अर्थात् विनाशवान है। गीता के दूसरे अध्याय में बारहवें श्लोक से लेकर तीसवें श्लोक तक अधिकतर आत्मा की इसी अमरता का वर्णन है।

चौथे अध्याय के छठे श्लोक में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि यद्यपि समस्त सृष्टि को उत्पन्न करने वाला आत्मा सबका स्वामी और अव्यय अर्थात् निर्विकार है और वह अजन्मा भी है, फिर भी वही अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर आत्म-माया से विश्व-रूप धारण करता है। सातवें अध्याय के चार से लेकर सातवें श्लोक तक परात्पर ज्ञान का वर्णन और आगे बारहवें तक आत्मा की सर्वव्यापकता का दिग्दर्शन है। नवें अध्याय के सातवें श्लोक में कहा गया है कि कल्प-क्षय होने पर यानी विकास और प्रगति का एक पूरा चक्कर होजाने पर सब भूत आत्मा की प्रकृति में समा जाते हैं और फिर कल्प के आदि में अर्थात् विकास-चक्र के पुनर्प्रारम्भ होने पर आत्मा से ही उनकी सृष्टि

हो जाती है । आठवे श्लोक में कहा गया है कि भूतों के इस समूचे समुदाय को आत्मा बार-बार बनाती है । प्रकृति के वश में रहने के कारण ये भूत इस प्रक्रिया के चक्र में विवश चक्कर खाते रहते हैं । दसवें में कहा है कि प्रकृति सब चराचर सृष्टि का निर्माण आत्मा की ही अध्यक्षता अर्थात् अधीनता में करती है ।

दूसरे अध्याय के इक्कीसवे श्लोक में, तीसरे के सत्ताईसवें-अट्ठाई-सवें में, चौथे अध्याय के चौदहवे, पाचवें अध्याय के चौदहवें-पन्द्रहवे, नौ के नवे में, तेरह के तेतीसवें मे, तथा अठारहवे अध्याय के सोलहवें-सत्रहवे श्लोकों में आत्मा के अकर्त्तापन का वर्णन किया गया है ।

इस आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का वर्णन दूसरे अध्याय के उन्नीसवें श्लोक मे यह कहकर किया गया है कि वह देखने-सुनने और बताने में इतना आश्चर्यकारी है कि उसे न तो कोई देख सकता है, न सुन सकता है, न बता सकता है । छठे के उन्तीसवें श्लोक में बताया गया है कि यह आत्मा सर्व भूतों में स्थित है और सब भूत आत्मा में स्थित हैं । सातवें के चौबीसवें श्लोक में कहा गया है कि आत्मा अव्यय और अव्यक्त है । और पचीसवें में बताया गया है कि उसका यह अव्यक्त स्वरूप व्यक्तस्वरूप, दृश्य जगत् से, ढका होने के कारण दीखता नहीं । आठवे के बीसवें श्लोक में कहा गया है कि वह परमात्म-तत्व व्यक्त-अव्यक्त दोनों से परे और सनातन है, क्योंकि अव्यक्त तो प्रकृति भी है । इक्कीसवे में कहा गया है कि वह अव्यक्त होने के साथ अव्यय भी है । बाईसवें में कहा गया है कि अव्यक्त और अक्षर तो प्रकृति भी है, अतः पुरुष अर्थात् आत्मा उससे परे है, उसीमें सब भूत अन्तःस्थित हैं, उसीमें इन सबका विकास हुआ है । नवें अध्याय के आठवें श्लोक मे कहा गया है कि अव्यक्त मूर्ति आत्मा में समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई है । सब भूत आत्मा मे स्थित हैं, परन्तु आत्मा उनमें नहीं है । पाचवे में कहा गया है कि ये भूत आत्मा से स्थित नहीं हैं, भूत-भावन आत्मा भूतों का भरण करने वाली होते हुए भी भूतस्थ नहीं है । जैसे आकाश-

स्थित वायु सर्वत्र विचरती हुई भी आकाश से लिप्त नहीं होती, उसी तरह से आत्मा भी सर्वभूतों में स्थित होने पर भी उनसे लिप्त नहीं होती। अठारहवे श्लोक में आत्मा को ही अखिल विश्व के प्रभव और प्रलय का स्थान तथा अव्यय और बीजों का निधान कहा गया है। नवें में यह कहकर कि आत्मा ही सद्सत्, मृत्यु-प्रभृत्र दोनों है, वही अखिल विश्व को उत्सृजित करती है और वही सबका निग्रहण, आध्यात्मिक विकास-चक्र का स्वरूप वर्णन कर दिया गया है। उन्तीसवें में कहा गया है कि आत्मा सब भूतों में स्वस्थ तथा उदासीन रूप से व्याप्त है। दसवें अध्याय के बीसवें श्लोक में कहा गया है कि आत्मा सर्वभूताशय स्थित है। वही सब भूतो की आदि, मध्य और अन्त है। उन्तालीसवें में यह कहकर कि सब भूतों का बीज स्वरूप जो कुछ है, वह आत्मा ही है। चराचर भूतों में ऐसा कुछ नहीं है, जो आत्मा के बिना उत्पन्न हो गया है। बयालीसवें मे स्पष्ट यह कह दिया गया है कि बहुत बातों से क्या, आत्मा अपने एक ही अंश में सारे जगत् को व्याप्त कर रहा है। यानी सर्वात्मा-परमात्मा जगत् और जीवात्मा का जोड़ ही नहीं है, वह इससे भी कहीं परे, उनका समुच्चय है। ग्यारहवें अध्याय के अठारहवें श्लोक मे कहा गया है कि आत्मा ही परम अक्षर, वही इस विश्व का अन्तिम आधार, अव्यय, शाश्वत और सनातन पुरुष है। ग्यारहवें के बत्तीसवें-तेतीसवें श्लोक में इस बात का वर्णन है कि जो आत्मा सब की सृष्टि करता है वही सब लोकों का संहार भी करता है। उनका संहार करने वाली शक्तिया यानी मनुष्य केवल निमित्त-मात्र होते हैं। अड़तीसवें में कहा गया है कि आत्मा ही आदि-देव और आदि-पुरुष है। उसीसे अखिल विश्व के अनन्त रूप उत्पन्न हुए हैं। बारहवें के तीसरे श्लोक मे आत्मा का स्वरूप सर्वत्रगामी, अचिन्त्य, कूटस्थ और अचल बतलाया गया है। तेरहवें अध्याय के बारहवें श्लोक से लेकर सत्रह तक आत्मा को अनादि, सबसे परे, सदसत्, कुछ नहीं, सर्वत्र-व्यापी, सर्व इन्द्रियों के गुणों के आभास वाला होते हुए भी निरीन्द्रिय,

सबसे अलग रहकर भी सबका पालन करने वाला, निर्गुण होते हुए भी गुणों को भोगने वाला, सब भूतों के भीतर और बाहर, चर और अचर, सूक्ष्म होने के कारण अज्ञेय, और दूर होते हुए भी पास रहने वाला, अविभक्त होने हुए भी सब भूतों में बंटकर रहने वाला, सब भूतों को पालन करने, ग्रसने तथा उत्पन्न करने वाला, तेज का तेज, अंधकार से परे, सबके हृदय में अधिष्ठित और ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य बताया गया है। सत्ताईसवें में आत्मा को सब भूतों में एक समान-समभाव से रहने वाला, और सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट न होने वाला बताया गया है। बत्तीसवे-तेतीसवें श्लोक में कहा गया है कि जैसे आकाश चारों ओर भरा हुआ है, परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उसे किसी का भी लेप नहीं होता, उसी प्रकार देह में सर्वत्र रहने पर भी आत्मा को किसी का भी लेप नहीं होता। जैसे एक सूर्य सारे जगत् में प्रकाश-रूप से रहता है, वैसे ही एक क्षेत्रज्ञ आत्मा भी सब क्षेत्रों को—शरीरों को—प्रकाशित करता है। पन्द्रहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा का कैसा ही स्वरूप क्यों न बताया जाय, उसका वैसा स्वरूप किसी को मिलता नहीं। दस अध्याय के बारहवें श्लोक से लेकर पन्द्रहवे तक आत्मा की सर्वव्यापकता दिखाई गई है। और सोलहवें, सत्रहवे तथा अठारहवें श्लोक मे क्षराक्षर तथा पुरुषोत्तम का वर्णन यों कहकर किया गया है कि इस लोक में क्षर तथा अक्षर दो पुरुष हैं। सब नाशवान भूतों को क्षर और इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहने वाले प्रकृति-रूप अव्यक्त-तत्व को अक्षर कहते हैं। परन्तु उत्तम पुरुष इन दोनों यानी विजय के निरन्तर नाशवान अनन्त नाम रूपों अर्थात् दृश्य-जगत् और मूल प्रकृति दोनों से भिन्न हैं; उसी को परमात्मा कहते हैं, वही अव्यय रूप से त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर उसका पोषण करता है। पुरुषोत्तम इससे भी परे यानी सर्वात्मा-जीवात्मा से भी परे, क्षर-अक्षर दोनों से परे होता है, वेदों में तथा लोक-व्यवहार में इसी सर्वात्मा-परमात्मा को पुरुषोत्तम कहते हैं। सत्रहवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में आत्मा के

'तत्सत्' से बताया गया है। इस तरह आत्म-स्वरूप का वर्णन करके अठारहवें अध्याय के बीसवें श्लोक में यह कहा गया है कि जिससे यह मालूम हो कि सब भिन्न-भिन्न भूतों में एक ही अव्यय और अविभक्त-भाव तथा तत्त्व है, वही ज्ञान सात्विक ज्ञान है और इस प्रकार, अध्यात्म ज्ञान के स्वरूप की प्रतिपत्ति की गई है। आत्मा के स्वरूप का यह द्वन्द्वात्मक "नेति-नेति" वर्णन हो जाने पर सवाल उठता है कि उसे जाना अथवा देखा कैसे जाय? इस सम्बन्ध में चौथे अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में साफ-साफ कह दिया गया है कि आत्म-स्वरूप का ज्ञान संयतेन्द्रिय-श्रद्धावान पुरुष को ही हो सकता है। वह इन्द्रियगोचर तथा बुद्धिगम्य नहीं है। छठे अध्याय में वे विधियां बताई गई हैं, जिनके द्वारा इन्द्रिया संयत हो सकती हैं, इसीलिए इस अध्याय को आत्म-संयम योग कहा जाता है। इसी अध्याय के छियालीसवें श्लोक में यह उपदेश दिया गया है कि कर्मयोग द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग पातञ्जलि-योग के मार्ग से और तपादि मार्ग से, सब मार्गों से, श्रेष्ठ है। सातवें अध्याय के तीसरे श्लोक में यह चेतावनी दे दी गई है कि आत्म-ज्ञान सर्व-साधारण सुलभ सुलभ्य नहीं है। उसके लिए सतत् प्रयत्न करने और प्रयत्न करने पर भी, तुरन्त फल न मिलने पर भी निराश न होकर उसी-की खोज में संलग्न रहने की आवश्यकता है। उन्नीसवें-बीसवें में कहा गया है कि अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद भी ऐसे सौभाग्यशाली महात्मा दुर्लभ होते हैं, जो वासुदेव अर्थात् एक आत्मा-परमात्मा ही सब कुछ है, यह अनुभव कर लें। अधिकतर लोग अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरे छोटे देवताओं की ही पूजा करते फिरते हैं। उन्तीसवें-तीसवें श्लोक में कहा गया है कि आत्मा के समूचे स्वरूप को जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि यह जान लिया जाय कि ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत आदि दैव और अधियज्ञ क्या हैं? और आठवें अध्याय के तीसरे-चौथे श्लोक में यह बता दिया है कि परम अक्षर कभी भी नष्ट न होने वाला तत्त्व ब्रह्म है और प्रत्येक वस्तु का मूल (भाव) स्वभाव,

अध्यात्म कहा जाता है। इस अक्षर ब्रह्म रूपी सर्वात्मा से ही भूत मात्रादि चराचर पदार्थों की उत्पत्ति करने वाले विसर्ग को अर्थात् सृष्टि के व्यापार को ही कर्म कहते हैं। उत्पन्न हुए सब प्राणियों की क्षर अर्थात् नामरूपात्मक नाशवान स्थिति भौतिकवाद अर्थात् अधिभूत है। इस भूत में जो पुरुष अर्थात् सचेतन अधिष्ठाता है, वही अधिदैवत् है। सब यज्ञों का अधिपति, अधियज्ञ और इस पिण्ड-ब्रह्माण्ड की देह में अधिदेह भी आत्मा-परमात्मा ही है, आत्म-स्वरूप का यह ज्ञान अनन्य चिन्तन-भाव से प्राप्त होता है। दसवें अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में अर्जुन के मुख से यह कहलवा दिया गया है कि आत्मा स्वयं वेद्य है। आत्मा को स्वयं आत्मा से ही, आत्मानुभूति से ही जाना जा सकता है और किसी तरह नहीं। अर्थात् अध्यात्म-तत्त्व, सनातन सत्य, इन्द्रियगोचर और बुद्धिगम्य नही स्वानुभवगम्य है। ग्यारहवे अध्याय के आठवें श्लोक में स्वय भगवान् कृष्ण ने साफ़-साफ़ कह दिया है कि सर्वात्मा का स्वरूप दिव्य दृष्टि से ही देखा जा सकता है। तेरहवें में कहा गया है कि नाना नाम रूप सम्पन्न अखिल-दृश्य जगत् उस सर्वात्मा में एकस्थ है। बारहवे अध्याय के दूसरे श्लोक मे बताया गया है कि अत्यन्त उत्कृष्ट श्रद्धा-पूर्वक नित्य जगत्रूपी जगदीश्वर की सेवा करना आत्मा को जानने का अच्छा मार्ग है। इसी अध्याय के बारहवे श्लोक में आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के सब मार्गों में कर्मफल त्याग के मार्ग को, निष्काम कर्मयोग के मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा है कि आत्म-स्वरूप के दर्शन ज्ञान-चक्षु से ही हो सकते हैं। चौदहवें अध्याय के उन्नीसवे श्लोक में कहा गया है कि आत्म-स्वरूप में मिलने के लिए कर्त्तापन के अहकार भाव को छोड़कर त्रिगुणातीत हो जाय। पन्द्रहवें के पाचवें श्लोक में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि आत्म-स्वरूप की पहचान यानी विश्व-सिद्धात की समुचित व्याख्या अध्यात्मवाद से ही हो सकती है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा का स्वरूप अचिन्त्य ही नही अनिर्वाच्य भी है। उसके सब स्वरूपों का वर्णन करके

वेद अन्त में नेति-नेति ही कहते हैं, यानी यही कहते हैं कि वह जैसा हमने बताया है, वैसा नहीं है। मतलब यह है कि जगत् की द्वैती भाषा में उसका जो भी वर्णन किया जायगा, वह अपूर्ण ही होगा। मानव भाषा, जो स्वयं द्वैत जगत् की सृष्टि है, वह अद्वैत का वर्णन कैसे कर सकती है? इसलिए उसमें आत्म-स्वरूप को वर्णन करते समय अद्वैत को सदैव द्वैत रूप में वर्णन करके यह कहना पड़ता है कि वह न ऐसा है, न वैसा; वह इन दोनों से परे है और दोनों ही स्वरूप वाला है। वह निर्गुण भी है सगुण भी, कर्त्ता भी है अकर्त्ता भी। दूर भी है पास भी। सत् भी है, असत् भी। न दूर है, न पास है। भीतर भी है बाहर भी, तथा न भीतर है, न बाहर है। न सत् है न असत्, इस प्रकार उसका वर्णन करना पड़ता है। सत्य, आत्मा अथवा परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करने में मानव भाषाओं की इस दरिद्रता अथवा असमर्थता का सुन्दर वर्णन श्रीयुत ए. एल. ऐय्यर ने अपनी "भाषा, सत्य और तर्क-शास्त्र" नामक पुस्तक में किया है।

संक्षेप में गीता के विश्व का शुद्ध स्वरूप आत्मस्वरूपी, अचिन्त्य अनिर्वाच्य, अव्यय और अक्षर है। दृश्य जगत् अर्थात् वाह्य विश्व इसी आत्मा का कनिष्ठ श्रेणी का दूसरा विकारयुक्त स्वरूप है और इसलिए वह व्यक्त और क्षर है। मनुष्य अर्थात वैयक्तिक जीवात्मा-दृश्य जगत् के सम्बन्ध में क्षेत्र रूप के व्यक्त और क्षर अर्थात् नाशवान और पूर्णतया नियुक्त है, तथा आत्मा के शुद्ध श्रेष्ठ स्वरूप के संबन्ध से अव्यक्त, अमर तथा पूर्ण स्वतंत्र है।

विश्व-चक्र की इस अध्यात्मवादी व्याख्या से विश्व-विकास की समस्त प्रगति और प्रक्रिया पूरी तरह समझ में आ जाती है। उसके अनुसार मूल प्रकृति में ही जीवन तथा जीवन में मन:बुद्धि निग्रहीत बीज रूप से रहते हैं, अत: उसीसे विकसित हो जाते हैं। आध्यात्मिक विकास का यह सिद्धान्त पशु देह में दिव्य जीवन का तथा मर्त्य निवास मे विकास और प्रगति की अमर आकांक्षा का सिद्धान्त है। वह जड़ प्रकृति से हलचे

जैसी हड्डी वाले जीव के और उक्त जीव से नर के तथा नर से नारायण के विकास का अजर-अमर आशा का सिद्धान्त है। गीता का यह विश्व सम्बन्धी सिद्धान्त शंकर के अद्वैत को मानता है, उनके माया-मिथ्यात्ववाद को नहीं। गीता-मतानुसार आत्मा स्वयं जगदाकार होता है। अतः जबतक जगत् है, तबतक प्रभव और उत्सृजन काल के लिए वह भी निस्सन्देह सत्य है जैसे बहुत बारीक चीज बहुत बारीक नोंक वाले औजार से ही पकड़ी जा सकती है, उसी प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा के स्वरूप को आत्म-निष्ठ सूक्ष्म बुद्धि से ही, बुद्धि से परे जाकर ही जाना जा सकता है। गीता सिर्फ यह कहती है कि जगत् का अस्तित्व आत्मा-परमात्मा से भिन्न ही है, स्वतन्त्र नहीं, तथा उसकी उत्पत्ति एक ही आत्मा-परमात्मा के दो सापेक्ष, धनात्मक और ऋणात्मक भावों के, परा-अपरा शक्ति के, प्रकृति-पुरुष के, संयोग से हुई है।

: ४ :

आलोचना की आंच

विश्व और मनुष्य के सम्बन्ध में गीता के अध्यात्मवाद के सिद्धान्त पर जितनी शंकाएं अथवा आलोचनाएं की जाती हैं, या की जा सकती हैं, उन सबको प्रधानत: (१) प्रत्यक्षवादी (२) प्रज्ञावादी और (३) प्रकृतिवादी इन तीन मतों में बांटा जा सकता है।

प्रत्यक्ष वादियों का कहना है कि संसार जैसा है, वैसा ही यथावत् ज्यों-का-त्यों हमें दीखता है और जैसा संसार हमें अपनी इन्द्रियों से मालूम होता है वही यथार्थ सत्य है, इसके अलावा और कुछ नहीं है। हम ऐसी किसी बात को मानने को तैयार नहीं हैं, जो हमारी इन्द्रियों से न जानी जा सके, यानी जिसे हम न तो आंखों से देख सकें, न कानों से सुन सकें, न जीभ से चख सकें, न त्वचा से स्पर्श कर सकें, और न नाक से सूंघ सकें। हम आत्मा-परमात्मा इत्यादि के ऐसे सिद्धान्तों को क्यो और कैसे मानें, जो इन्द्रियगोचर न हों, जो हमें प्रत्यक्ष में न दीखते हों?

इनका मत सबसे निकृष्ट मत है और इनकी समझ ना समझी की समझ। संसार-भर के लगभग सभी ज्ञानियों और विज्ञानाचार्यों का कहना है कि हमे चाहे यह मालूम हो या न हो कि विश्व, मनुष्य और उनका रहस्य क्या है, लेकिन यह निश्चित और सर्वसम्मत बात है कि संसार जैसा हमारी इन्द्रियों को दिखाई देता है, वैसा नहीं है।

यह कोई जरूरी नहीं है कि जो चीज हमें न दिखाई दे, वह हो ही न। ऐसा कहने से हर चीज का अस्तित्व इन्द्रियों की अनुभव शक्ति पर

निर्भर हो जाता है। अब तक न मालूम विश्व का कितना भाग, कितनी चीजें, हमें नहीं मालूम हुई, तो क्या वे हैं ही नहीं? आज भी परमाणु, तथा विद्युत्-कणादि हमे अपनी इन्द्रियों से नहीं दिखाई देते, तो क्या वे हैं ही नहीं? इसी तरह यह भी जरूरी नहीं है कि जो चीज हमे दिखाई दे, वह हो ही। नक्षत्रो के स्वरूप-चित्र को वहासे चलने वाली प्रकाश-किरणें हमारी पृथ्वी तक हजारों बरस में पहुँचा पाती हैं। इस तरह जिस नक्षत्र की प्रकाश-किरणें यहा दो हजार एक वर्षों मे आ पाई, वह अगर दो हजार बरस पहले नष्ट और लुप्त भी हो गया हो, तब भी हमें यहा आज भी दीखेगा। यानी यह सम्भव है कि जो तारिका हमे आज दिखाई देती है, वह हजारों बरस पहले अस्तित्व-हीन हो चुकी हो। अर्थात् बात प्रत्यक्ष-वादियों के दावे के बिलकुल विपरीत साबित होती है, यानी जो चीज हमें दिखाई देती है, उसका न होना और जो नहीं दिखाई देती, उसका होना सम्भव है।

आम-तौर पर सब वैज्ञानिकों की और खास-तौर पर भौतिक व शारीरिक विज्ञान की यह राय है कि हमें जो कुछ दिखाई देता है, वह यथार्थ नहीं, द्रष्टा की स्थिति पर निर्भर होता है। बाह्य-संसार में विद्यमान दीखने वाले गुण और विकार स्वय उनमे उनके अधिकार से नहीं होते, बहुत हद तक द्रष्टा की मनगढन्त होते हैं। आईंस्टीन का सापेक्ष सिद्धान्त भी इस बात का समर्थन करता है कि हम क्या देखें या अनुभव करें अपनी इन्द्रियो से इसका निर्णय करने में देखने अथवा अनुभव करने वाले के मन का बहुत बड़ा हाथ रहता है। हमारे देश के विचारकों ने तो यह स्वय ही कहा है कि आखें रूप को मन से देखती हैं, आखों से नहीं। सापेक्षतावाद का कहना है कि एक ही घटना दो देखने वालों को भिन्न-भिन्न काल में हुई दिखाई दे सकती है, क्योंकि जो घटनाएं घटित होती हैं, उनका चित्र सूर्य की प्रकाश-किरणों द्वारा इधर-उधर ले जाये जाते हैं। अब यदि कोई संसार ऐसा हो, जिसमें हमारी पृथिवी की प्रकाश-किरणें ढाई हजार बरस में पहुँचती हों, तो वहा के निवासियों को

महाभारत आज होता हुआ दिखाई देगा। यह तो सभी जानते हैं कि शब्द और चित्र प्रकाश-किरणों में रहते हैं, क्योंकि रेडियो और टेलीफोन द्वारा प्रकाश-किरणों में विद्यमान इन शब्दो को अब सब सुनने लगे हैं और संसार की गति से थोड़ा-सा भी परिचय रखने वाले लोगों को यह भी मालूम होगा कि टेलीफोन की तरह टेलीविजन यानी टेलीफोन पर बात करने वाले के चित्र का फोन पर दीखना भी सम्भव है।

इसी बात का एक दूसरा उदाहरण लीजिए। हमें मालूम है कि भारतवर्ष के पिछले पचीस बरस की राजनैतिक घटनाओं का क्रम इस प्रकार है। १६१६ में महात्मा गाधी ने खिलाफत, स्वराज्य और पंजाब हत्याकाण्ड के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। १६२२ मे महात्माजी गिरफ्तार हुए। १६२३ में स्वराज्य-पार्टी ने कौंसिलों में प्रवेश किया। १६२७ मे साइमन कमीशन आया। १६२६ में लाहौर की कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ। १६३० से ३३ तक सत्याग्रह-सग्राम हुआ। १६३४ में केन्द्रीय असेम्बली के और १६३६ मे प्रान्तीय असेम्बलियों के चुनाव हुए। १६३७ में कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया। १६३६ मे उन्होंने मन्त्रि-मंडलों से इस्तीफा दे दिया। १६४० में वैयक्तिक सत्याग्रह तथा १६४२ में पूर्ण स्वाधीनता का संग्राम हुआ, जिसके फल-स्वरूप १६४४ की अप्रैल की छः तारीख तक महात्मा गाधी तथा कार्यकर्त्ता कमेटी के सदस्य नजरबन्द रहे। इन सब घटनाओं को इस क्रम से सूर्य की प्रकाश-किरणे चन्द्र-लोक को ले गईं।

अब मान लीजिए कि हम उड़न खटोला या और किसी ऐसी हवाई मशीन पर बैठकर जो प्रकाश-किरणो से भी अधिक तेज चलती हो, चन्द्र-लोक की यात्रा छः अप्रैल १६४४ को शुरू करें और अपनी मशीन की चाल सूर्य की प्रकाश-किरणों की चाल के बराबर ही रक्खे, तो हम चाहे हजार बरस तक यात्रा करते रहे, हमें यही दिखाई देगा कि पृथिवी स्थिर है, और महात्मा गांधी अभी तक यानी सन् ४००० ईसवी तक भी आगा खा महल मे बैठे हुए हैं। ऐसा इसलिए होगा, क्योंकि-

हमारी मशीन की गति उस प्रकाश-किरण के साथ-साथ है, जो छः अप्रैल १९४४ के इस घटना के चित्र को ले जा रही है। लेकिन मान लीजिये कि हम अपनी मशीन की चाल प्रकाश किरणों की चाल से तेज रक्खें, तो हम अप्रैल १९४४ से पहले चली हुई प्रकाश-किरणों द्वारा ले जाये जाने वाले घटना-चित्रों को पकड़ने और देखने लगेंगे। यानी हम छः अप्रैल १९४४ को पृथिवी से चलकर डेढ़ महीने बाद यह देखेंगे कि हाय ! माता कस्तूरबा की चिता जल रही है और महात्मा गाधी वहा खड़े हैं, उनकी आखों में दो आसू हैं। डेढ साल बाद हमें यह दिखाई देगा कि बम्बई में महात्मा गाधी और काग्रेस कार्य समिति के सदस्य गिरफ्तार किये जा रहे हैं। सैंतीस-अड़तीस महीने बाद वैयक्तिक सत्याग्रह होता हुआ दिखाई देगा। छः अप्रैल १९४४ से सफर शुरू करने के तिरेपन महीने बाद हम काग्रेस मन्त्रि-मडलों को इस्तीफा देते हुए देखेंगे और पौने सात बरस बाद यानी १९३१ में उन्हें मन्त्रि-मंडल ग्रहण करते हुए देखेंगे। १९६९ में खिलाफत और स्वराज्य के लिए सत्याग्रह होता हुआ तथा प्रिंस आफ वेल्स का बायकाट होता हुआ दिखाई देगा। यानी घटनाएं जिस क्रम से हुई हैं, उसके ठीक विपरीत क्रम से हमें दिखाई देंगी।

इससे स्पष्ट है कि देखना बहुत हद तक देखने वाले की स्थिति पर निर्भर है। ऐन्द्रिक अनुभव को ही सब कुछ बताते हुए प्रत्यक्षवादी यह भूल जाते हैं कि इन्द्रियों की शक्ति बहुत सीमित है। यहा तक कि कई इन्द्रियों के मामले में मनुष्य पशु-पक्षियों से भी पिछड़ा हुआ है। उदाहरणार्थ सूघने की शक्ति में कुत्ता, और देखने की शक्ति में गृद्ध मनुष्य को बुरी तरह पीट देता है। इसके अलावा ऐन्द्रिक अनुभव स्वयं स्थिर तथा निश्चित नहीं। वह हर एक की वेदना शक्ति, अनुभव शक्ति पर निर्भर है। वयस्कों का अनुभव बच्चों के अनुभव से बहुत भिन्न और बढा-चढ़ा होता है। जो बात वयस्कों के अनुभव को प्रत्यक्ष दिखाई देती है, वही बच्चों के अनुभव से परे हो सकती है।

इन्हीं कारणों से योगिराज अरविन्द ने प्रत्यक्षवादियों के इस दावे को कि ऐन्द्रिक अनुभव-जन्य सत्य ही सत्य है और उनसे परे का अनुभव अवास्तविक, उनका गँवारपन कहा है। समस्त संसार में अब तक के सबसे बड़े गणितज्ञ आईंस्टीन ने यह साबित कर दिया है कि विश्व जिस तरह बना, उसका पता मानवेन्द्रियाँ कभी नही लगा सकतीं। विश्व का व्यापार वैसा नहीं, जैसा साधारण प्रत्यक्षवाद उसे बताता है। वास्तव में विश्व का स्वरूप तथा उसका विस्तार तथा उसके ज्यामिति सत्य ऐसे हैं, जिन्हें हम कभी भी अपनी आखों से नही देख सकते। इन्द्रियों से इन सत्यों का अनुभव कर लेना तो बहुत दूर की बात है, हम उनकी कल्पना तक नहीं कर सकते। अधिक-से-अधिक अपने मन में उनका चित्र खींच सकते है, क्योंकि हमारी आखों और हमारे मनों का अनुभव कमरो और विश्व के टुकड़ों के अनुभव तक ही सीमित है और यह अनुभव विश्व के सत्य को जानने के लिए बहुत छोटा है। इस नन्हे से अनुभव के बल पर विश्व के सत्य का पार पाने का प्रयत्न करना गोस्वामी तुलसीदास जी की "जिमि पिपीलका सागर थाहा, महामन्द मति पावहिं चाहा।" से भी अधिक मूर्खतापूर्ण है। आधुनिक मानव के लिए तो यह कल्पना ही कठिन है कि देश (आकाश) के सम्बन्ध में उसका ऐन्द्रिक अनुभव वास्तविकता से बिलकुल विपरीत है।

जगत् प्रसिद्ध विद्वान् बरट्रैण्ड रसल का कहना है कि हमारी इन्द्रियो को पदार्थों का पूरा अनुभव कभी नही होता। हमे केवल उनके कुछ हिस्सों का अनुभव होता है।

जान लैंगडन डैवीस ने अपनी 'विश्व और मनुष्य' नामक पुस्तक मे यह लिखा है कि हमारी इन्द्रिया ज्ञान के द्वार अवश्य हैं, परन्तु ऐसे द्वार हैं, जिनसे विश्व और सत्य हमे दिखाई भी देता है और ओट में भी हो जाता है; यानी ऐन्द्रिक अनुभव भ्रमपूर्ण भी होता है। द्रष्टि-भ्रम तो प्रसिद्ध ही है। वेदान्तादि ग्रन्थों में उसके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे रस्सी का साप दिखाई देना और सीप मे चादी दिखाई देना, आख

में उँगली डालने पर एक ही पदार्थ के दो पदार्थ दिखाई देना और अनेक रगो का चश्मा लगाने पर साधारण पदार्थ का रङ्ग-बिरङ्गा दिखाई देना इत्यादि। पाश्चात्य ज्ञानी-विज्ञानी भी इन्द्रिय-भ्रमों के अनेक उदाहरण देते हैं, जैसे कि एक ही चर्च के गुम्बद को कई लोग अलग-अलग जगह से देखे, तो किसीको छोटा तथा किसीको बड़ा दिखाई देगा। पैसे की शकल को लीजिए, वह वृत्ताकार होती है, लेकिन उसको ऊपर-नीचे न देखकर बगल से दिखाया जाय, तो वह वृत्ताकार के बजाय अण्डाकार दिखाई देता है। अगर उँगलियों से पैसे को टटोलने वाले की उगेलिया सूजी हों, तो उसे पैसा जितना मोटा है, उससे अधिक मोटा प्रतीत होगा। अगर हम अपने शरीर का तापमान कुछ डिग्री बढ़ा लें, तो समस्त ससार हमें बिलकुल भिन्न दिखाई व प्रतीत होगा। स्लैप लैएडन नामक लेखक ने 'दर्शन तथा जीवन' नामक पुस्तक में पिचहत्तरवें पृष्ठ पर लिखा है कि हरा घण्टा दूर से देखे जाने पर नीला दिखाई देता है। अंगुलियों के बीच से देखने से एक नाक की दो नाक दिखाई देती हैं। पानी मे छड़ी टेढी दिखाई देती है, यद्यपि छूने पर या पानी से निकालने पर वह सीधी ही साबित होती है। आखों मे सैण्टोमाइन नाम का रङ्ग डाल लिया जाय, तो तमाम चीजे उसी रङ्ग की दिखाई देती है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि भौतिक पदार्थों का हमें सीधा अनुभव नहीं होता। मेज की टांग ही हमें दीखती है और मन झट यह तय कर देता है कि यह टाग मेज की है। कभी-कभी तो टाग भी पूरी नहीं दिखाई देती। तात्विक दृष्टि से तो वह कभी पूरी दिखाई दे ही नहीं सकती। अपनी इन्द्रियों से हम भौतिक पदार्थों तक का पूरा तथा सीधा अनुभव नहीं करसकते। इन्द्रिया केवल सूचना की सामग्री मात्र मन के पास भेज देती है। शरीर - विज्ञान के अनुसार होता सिर्फ यह है कि इन्द्रियों द्वारा सूचना पहुँचते ही चक्षु-स्नायुओं में कुछ उत्तेजना-सी होती है, जिससे मन में उस सूचना के आधार पर एक चित्र खिच जाता है।

बरट्रैण्ड रसल का कहना है कि ऐन्द्रिक अनुभव से हमें जो सूचना मिलती है, वह अप्रत्यक्ष, आनुमनिक और आंशिक होती है। सर आर्थर ऐडिङ्गटन की अधिकार पूर्ण सम्मति है कि भौतिक-विज्ञान के आचार्य जब अपने संसार से संसर्ग स्थापित करना चाहते हैं, तब अपने उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अपनी इन्द्रियों को सहायक समझने के बदले उन्हें बाधक समझते हैं और एक-एक करके समस्त इन्द्रियों की सहायता को ताक पर रख देते हैं। कान, नाक, जीभ इत्यादि किसी से उनका काम नहीं चलता, न वे उनसे काम लेते हैं। जब वैज्ञानिक सत्यों की खोज मे इन्द्रिया इतनी बेकार साबित होती है, तब आत्मा-परमात्मा की खोज में उनको प्रमाण मानना सरासर भूल है!

इन्द्रियों की हालत तो यह है कि शरीर-विज्ञानियों के कथनानुसार अगर हम मज्जातन्तुतन्त्र (Nervous System) नाड़ी-मण्डल के उपयुक्त अंशों को सम्यक रूप से उत्तेजित कर दे, तो किसी चीज के न छूने पर भी हमे यह अनुभव होगा कि हम उसे छू रहे हैं। इसी प्रकार लाल गुलाब रङ्गान्ध कलाकार और वनस्पति-शास्त्री को भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देता है। अर्थात् बहुधा "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी" वाली बात होती है।

यदि हम विश्व और सत्य की खोज को ऐन्द्रिक अनुभव तक ही सीमित कर दें, तो गणित-शास्त्र तो समाप्त ही हो जाय, क्योंकि गणित-विज्ञान ऐन्द्रिक अनुभव से स्वतन्त्र रहता है, उन पर निर्भर नहीं। गणित के अंक संकेत मात्र हैं और इन अंकों के आधार पर जो बातें बयान की जाती हैं, वे इन्द्रियों के अनुभव से परे की बातें हैं, उनकी पहुँच के सर्वथा बाहर। गणित के नियम भौतिक पदार्थों के अवलोकन से नहीं प्राप्त होते उनसे बिलकुल स्वतंत्र होते हैं; फिर भी बेचारे भौतिक पदार्थों को गणित के नियमों की आज्ञानुसार चलते हुए देखा जाता है।

आध्यात्मिक विकास-वाद के अद्वितीय विशाल ग्रन्थ 'दिव्य-जीवन' में योगिराज अरविंद का कहना है कि भौतिक जगत् में भी ऐसी बहुत सी

जरिये सब कुछ जाना जा सकता है।

प्रज्ञावादी बुद्धि की सीमाओं को नहीं मानते। वे यह भूल जाते हैं कि बुद्धि भी इन्द्रिय मात्र है। एक ऐसी इन्द्रिय जो वासना की दासी और भ्रमात्मक है। बुद्धि गम्य ज्ञान का आधार साधारणतः इन्द्रियदत्त अनुभव पर ही निर्भर करता है, यद्यपि वह ऐन्द्रिक अनुभव से सिद्ध नहीं किया जा सकता। बुद्धि हमें यह नहीं बता सकती कि भौतिक संसार मे सत्ता क्या है ? उससे हम अधिक वास्तविक तथा अधिक पूर्ण संसार भले ही जान लें। द्रष्टा का मन ही इस बात का चुनाव करता है कि इन्द्रिय दत्त सूचनाओं में से किन-किन सूचनाओं को बुद्धि के सामने रखे। ये सूचनाएं भी पूरी नहीं होतीं। मन स्वयं इन इन्द्रिय दत्त स्वल्प सूचनाओं का विस्तार करके भौतिक पदार्थों के चित्र बनाता है और इस प्रक्रिया में इन्द्रियदत्त सूचनाओं में अपनी ओर से काफी नमक-मिर्च मिला देता है।

जिस बुद्धि के सामने ये सूचनाएं निर्णय के लिए रखी जाती हैं, वह अरस्तू, शोपेनहर तथा अन्य अनेक विद्वान विचारकों और प्रयोजन वादियों की राय में वासनाओं की दासी होती है। वह पूर्णतया शुद्ध नही होती, विकारों की दासी होती है। अपना निर्णय करने मे वैयक्तिक वासनाओं तथा मनोविकारों से प्रभावित होती है। वह व्यावहारिक आवश्यताओं के संकेतों पर चलती है। इन आवश्यकताओं से अनजाने प्रभावित होती है। वास्तव मे ये आवश्यकताएं ही यह तय करती हैं कि बुद्धि को कौन-सी चीज सही मालूम होगी।

वह व्यावहारिक कामों के लिए कितनी ही उपयुक्त क्यों न हो, सत्य अथवा तत्त्व को जानने में वह बिलकुल बेकार साबित होती है, सदा गड़बड़ घोटाले में पड़ी रहती है। अन्ततः सत्य को जानने में उसकी विफलता उसके स्वभाव से ही निश्चित रहती है। सी० ई० एम० जोड नामक विद्वान् लेखक का कहना है कि बुद्धि और मनोविकारों में से एक को स्पष्ट पहचान लेना असम्भव ही है। साधारणतया बुद्धि उन्हीं निष्कर्षों को प्रति-

व्यक्त किया है कि जिस तरह चूहा पियानो के टुकड़े-टुकड़े काटकर भी इस मर्म को नहीं जान सकता कि उसमें से सङ्गीत के सुमधुर स्वर कैसे निकलते हैं, वैसे ही बुद्धि भी विश्व के टुकड़े-टुकड़े करके आत्मा के रहस्य को नहीं जान सकती। इसीलिए हिन्दू पुराणों मे यद्यपि देवताओं के गुरु बृहस्पति को बुद्धि का देवता बताकर बुद्धि को अत्युच्च स्थान दिया, तथापि यह कहकर कि स्वयं बृहस्पति महाराज नास्तिक हैं, यह बात डंके की चोट कह दी गई कि बुद्धि के लिए आत्मा-परमात्मा का पता लगाना असम्भव है। जिस इन्द्रिय का देवता ही नास्तिक है, वह स्वयं आत्मा के अस्तित्व को कैसे जान सकती है? शरीर शास्त्रियों ने मस्तिष्क के अधिकांश भाग को काटकर देखा, तब भी विचार-प्रक्रिया बन्द नही हुई। उन्होंने इस तरह यह सिद्ध कर दिया कि बुद्धि केवल मस्तिष्क नही।

जो हाल बुद्धि का है, वही तर्क का भी है। तर्क-शास्त्र के दो भाग हैं। एक किसी गृहीत अर्थात् माने हुए सिद्धान्त से निष्कर्ष निकालना। इस पद्यति में मुख्य बात को बिना प्रमाणित किये उसे मानकर चलना पड़ता है। दूसरा एक ही बात को बार-बार होते देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि वह सदा वैसे ही होती रहेगी, जैसे सूर्य को रोज निकलते देखकर यह मान लेना कि वह हमेशा इसी तरह प्रति-दिन प्रातःकाल निकलता रहेगा। इस पद्धति से निकाले हुए निष्कर्ष अनुभव से परे, केवल अनुमानात्मक होते हैं, आगे के लिए विश्वास मात्र देते हैं। ये अनुमानात्मक सिद्धान्त अनुभवगम्य नहीं होते, उन पर विश्वास करके ही चलना पड़ता है। तर्क-शास्त्र की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि वह स्वयं अपने अन्तिम-माने हुए-ग्रहीत नियमों की मान्यता को प्रदर्शित अथवा तर्क से सिद्ध नहीं कर सकता। इसका पर्यात कारण यह है कि उसको प्रत्येक तर्क में मान कर ही चलना पड़ता है। इस प्रकार जिस तर्क-शास्त्र की बहुत दुहाई दी जाती है, वह श्रद्धा और विश्वास की सहायता के बिना एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता।

ही नहीं होता। ऐसे अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनमें से एक उदाहरण एक कछुए का है, जिसने घोड़े से होड़ बदी कि मुझे एक फर्लाङ्ग आगे जाने देने के बाद तुम मुझे कभी नहीं पकड़ सकते। जब घोड़े ने यह शर्त मान ली, तब कछुए ने उपर्युक्त तर्क से बिना दौड़े ही यह तर्क देकर बाजी दे दी कि तर्कानुसार हर दशा में किसी भी जगह तुम मुझे जाकर जिस समय पकड़ोगे, उस समय तक मैं वहां से आगे चला गया होऊंगा।

तर्क की इन्हीं त्रुटियों के कारण संसार में सबसे समझदार और बुद्धिमान माने जाने वाले चीनी लोग, जिनकी बाबत बर्नार्ड शा ने अपने Back to Methuselah नामक नाटक में यह लिखा है कि वे इंग्लैंड का राज-काज अंग्रेजों से कहीं बहतर कर सकते हैं, तर्क को कभी अन्त तक पहुंचाना पसन्द नहीं करते। जीवन पर तर्क को लागू करने से तो वे स्पष्ट इनकार कर देते हैं।

दलीलों की इस दलदल के प्रति संसार मे बहुत पहले से ही प्रतिक्रिया हो चुकी है। हास्यरसावतार वाल्टेयर के कथनानुसार जब हम तर्क-वितर्क करने लगते हैं, तब सब नष्ट हो जाता है। उसकी राय में मानव-समाज का बौद्धिक इतिहास एक कपोल कल्पना की जगह दूसरी कपोल-कल्पना स्थापित करने का इतिहास है। विलियम डुरैंट ने अपनी दर्शन की कहानी नामक पुस्तक में लिखा है कि यह विश्वास कि मनुष्य विचारशील प्राणी है, रूसो के समय में बीमार पड़ा, काण्ट के समय में उसने चारपाई पकड़ ली और शोपेनहेर के समय में वह मर गया। यूरोप में अठारहवीं सदी बुद्धि-वाद का युग था, परन्तु अब लोग यह अनुभव कर चुके हैं कि बुद्धि-दत्त ज्ञान कुछ हद तक विश्वसनीय होते हुए भी बहुत उथला, बिखरा हुआ और कभी-कभी धोखा देने वाला होता है। यह सभी को मालूम है कि असंख्य दृष्टिकोणों के अनुसार मनुष्यों के विचार भी असंख्य होते हैं। देखने-सुनने में मनुष्य मन-मुताबिक करता ही है। तर्क के विषय में भी सचाई यह है कि जब कभी

तर्क उनके मन के विरुद्ध होता है, तब तर्कवादी भी तर्क को ताक पर रख देते हैं। स्मृति स्वयं हमारे मन की दासी होती है। हमें अपनी जीतादि की अच्छी बातें याद रहती हैं और पराजय-अपमानादि की बुरी बातों को हम भूल जाते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक ब्रेडली ने "दृश्य और सत्य" नामक पुस्तक में बुद्धि-वाद की कड़ी आलोचना की है। मनुष्य वास्तव में अपने जीवन में बुद्धि से उतना काम नहीं लेते, जितना कि श्रद्धा, राग-द्वेषादि स्वाभाविक मनोधर्मों से लेते हैं। वासनात्मक बुद्धि, साधारणतः स्नेह, परिवार, परम्परा, जाति, बिरादरी, शिक्षा तथा श्रद्धा-भक्ति आदि के प्रभाव से परिपूर्ण रहती है। बुद्धि विश्व में सर्वव्यापी, अनादि, अनंत प्रवाह में से केवल अंशमात्र, मूर्त्त चीजों को देख सकती है। भव-प्रक्रिया को अन्तःदृष्टि बिना नहीं जाना जा सकता। स्पेंगलर ओसवाल्ड के शब्दों में बुद्धि केवल व्यक्तों को ही देख सकती है और जिसे बुद्धि जान लेती है, उसकी मृत्यु ध्रुव है। मानव विचारेतिहास की शिक्षा यह है कि श्रद्धा-विश्वास में सन्देह करने से मनुष्य को ज्ञान मिला, परन्तु ज्ञान में सन्देह करने पर, उसे समझने का प्रयत्न करने पर उसे अन्त में श्रद्धा की ही शरण लेनी पड़ी। स्पेंगर ओस्वाल्ड नाम के जर्मन विद्वान ने अपनी "पश्चिम का ह्रास" नामक अनन्य विद्वतापूर्ण पुस्तक में प्रज्ञावाद के धर्म की कड़ी आलोचना की है। अतियुक्तवाद के फलस्वरूप यूरोप में पाश्चात्य देशों में अब अयुक्तवाद का जोर बढ़ने लगा है। मानव बुद्धि और मानव तर्क सत्य, आत्मा, परमात्मा का मूल परखने में उतनी ही दरिद्र है, जितनी कुजड़िन-कुजड़ा, मणि-माणिक का मूल्य कूतने में। इस दरिद्रता के लिए, जिस बुद्धि अथवा तर्क के सभी निष्कर्ष अधूरे, सापेक्ष और अस्थायी होते हैं, उसके लिए हम अध्यात्म-वाद के अमर और अक्षय सम्पत्ति-भण्डार को कैसे छोड़ सकते हैं? जी० डी० एच० कोल नामक अंग्रेज विद्वान ने यह ठीक ही कहा है कि कोई बुद्धिवादी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि अमुक सिद्धांत सही ही है और जो निश्चयपूर्वक ऐसा कहता है, वह बुद्धिवादी ही नहीं

है। अर्थात् गीतामतानुसार बुद्धिवादी संशयात्मा होते हैं।।

गीता के अध्यात्म-वाद को मानने से इनकार करने वालों का तीसरा और सब से अधिक बलशाली दल प्रकृतवादियों का है। इनके तीन उपभेद हैं। पुराण भौतिकवादी, वैज्ञानिक भौतिकवादी और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी। इनमें पुराण भौतिकवादी शाखा निकृष्ट श्रेणी की है। इसका दार्शनिक प्रतिपादन प्रधानतः हैकल नामक विद्वान ने अपनी "विश्व की पहेली" नामक पुस्तक में जड़ाद्वैतवाद का समर्थन करके किया है। ये जड़ प्रकृति को ही सब कुछ मानते हैं। पुराण भौतिक-वादी इस बात का कोई जवाब नहीं दे सकते कि जड़ प्रकृति को गति कैसे मिली? जड़ से चेतन कैसे हुआ? स्वयं हैकल की गणना प्रथम श्रेणी के दार्शनिकों में नहीं है और स्वयं हैकल को जड़ प्रकृति में चेतन कैसे आया, इस प्रश्न का जवाब देने के लिए परमाणुओं में आत्मा (Atomicule) का होना मानना पड़ा है। हैकल का यह जड़-वाद जीवन-विज्ञान सम्बन्धी समस्याओं को भी हल नहीं कर सका। इस समय अधिकतर सभी पाश्चात्य-ज्ञानी-विज्ञानी भौतिकवाद को छोड़ते जा रहे हैं। एक लेखक का कहना है कि भौतिकवादियों की तीन गांठों में गठिया का रोग है। (१) वे अभी यह नहीं बता सके कि जीवन की उत्पत्ति कैसे हुई? सैकड़ों बरस के सिद्धान्तों व प्रयोगों के बाद भी वे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये हैं। (२) यह कि मन और शरीर का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और (३) न वे अभीतक नियुक्ति-वाद और इच्छा स्वातंत्र्य का ही झगड़ा तय कर पाये हैं: यानी अभी वे यह नहीं तय कर पाये कि जब भौतिकवाद और समस्त विज्ञानों के अनुसार मनुष्य सर्वथा नियुक्त और प्रकृति के पराधीन है, फिर उसमें नैतिक भाव और इच्छा स्वातंत्र्य की भावना कहाँ से आई? इन्हीं कारणों से स्वयं वैज्ञानिक अब पूर्णतया भौतिकवादी नहीं रहे। स्वयं भौतिक-विज्ञान अब भौतिक-वाद को छोड़ता चला जा रहा है। इन दिनों जड़ाद्वैत-वाद अथवा पुराण भौतिक-वाद को बहुत कम लोग मानते हैं। अधिकतर धूम विज्ञान की वैज्ञानिक

भौतिक-वाद की है।

वैज्ञानिक भौतिकवादी यान्त्रिक भौतिकवादी है। इनमें डार्विन, स्पेंसर, न्यूटन आदि के नाम प्रधान हैं। वैज्ञानिक केवल ऐन्द्रिक और केवल बौद्धिक अनुभवों को अपूर्ण पाते हैं। वे तर्क से अपने निष्कर्ष निकाल कर उससे प्राप्त परिणामों को ऐन्द्रिक अनुभव से जांचते हैं। परन्तु वैज्ञानिक अनुभव तक ही बद्ध नहीं रहते, उससे परे जाते हैं। गीता-विज्ञान की आवश्यकता और महत्ता को पूर्णतया स्वीकार करती है। सातवें अध्याय का नाम ही ज्ञान-विज्ञान-योग है। नवें अध्याय के पहले व दूसरे श्लोक में ज्ञान-विज्ञान पर जोर दिया गया है। अठारहवें अध्याय के चालीसवें श्लोक में ज्ञान-विज्ञान में आस्तिकता ब्राह्मणों का सहज कर्म बताया गया है। परन्तु गीता न तो विज्ञान के इस दावे को ही स्वीकार करती है कि उसके सिवा और कुछ है ही नहीं और न उसे ज्ञान से अधिक महत्त्व देने को ही तैयार है। उसने विज्ञान की परिभाषा ही यह की है कि एक में अनेक देखना विज्ञान का काम है अर्थात् दृश्य जगत के नियमों का पता लगाना उनका अपना विशेष काम है, परन्तु वे विज्ञान हैं ही भेद-भाव के शास्त्र, जो एक सम्पूर्ण का पता नहीं लगा सकते। विज्ञान अध्ययन की सुविधा के लिए विश्व और मनुष्य के जो विभाग करते हैं, वे वास्तव में सही नहीं होते। गीता के अनुसार ज्ञान सम्पूर्ण विश्व का विहगावलोकन उसके ऊपर स्वच्छन्द सर्वत्र उड़कर उसके समूचे स्वरूप को देख लेना है और यह काम आत्मा ही कर सकती है। गीता के मतानुसार विज्ञान कूपमण्डूकीय ज्ञान है, यानी विश्व के सीमित अंश विशेष मात्र का ज्ञान है। आधुनिक विज्ञान स्वयं गीता के इस मत का समर्थन करता है। आज समस्त जीव-विज्ञान डार्विन के विकास सिद्धान्त को अधूरा पाकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर रहा है। वैज्ञानिकों के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्तों को तो ह्यूम ने बहुत पहले थोथा सिद्ध कर दिया था। उसने यह सिद्ध कर दिया था कि विज्ञान के नियमों में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, वे केवल घटनाओं के सिलसिले पर निर्भर है।

इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि विज्ञान के नियम सही ही हों। उसके बहुत से सिद्धान्त भ्रमात्मक सिद्ध हो चुके हैं। उदाहरणार्थ डार्विन का विकास-वाद का सिद्धान्त और न्यूटन का आकर्षण का सिद्धान्त। प्रो० स्टैविङ्ग ने "दर्शन और भौतिक विज्ञान" नामक पुस्तक में भौतिक विज्ञानों की अनेक त्रुटिया दिखाई है। कोई भी विज्ञान अपने मुख्य विषय को नहीं सिद्ध कर पाता, वह उन्हें मानकर चलता है। भौतिक विज्ञान भूत के, जीव-विज्ञान जीव के और मनोविज्ञान मन के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं दे सकता। वे इनके अस्तित्वों को श्रद्धापूर्वक मानकर चलते हैं और इसी श्रद्धा- विश्वासों के बल पर वह सब सफलता प्राप्त करते हैं, जिसे देखकर लोगों के मन में उनके प्रति मूढ़ विश्वास उत्पन्न हो रहा है। बीसवीं सदी का ज्ञान-विज्ञान इस बात का समर्थन करता है कि भौतिकवादियों का यह दावा कि वे समस्त विश्व अथवा सत्य की भौतिकवादी व्याख्या कर सकते हैं, मूढ़ विश्वास से बहतर नहीं है। यह सही है कि वर्त्तमान पाश्चात्य भौतिकवादी विकास की प्रक्रिया का विस्तृत व प्रचुर प्राकृतिक प्रमाण परिपूर्ण वर्णन कर सकने हैं, तथापि वे उसमें सन्निहित-कूटस्थ तत्व को नहीं देख पाते।

बीसवीं सदी के विज्ञान ने उन्नीसवें सदी के वैज्ञानिक विश्व को बिलकुल विलुप्त कर दिया है। वैज्ञानिकों का यह विश्व, देश-काल और कार्य-कारण सम्बन्ध इस त्रिमूर्ति के बल चल रहा था, लेकिन आईंस्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त ने और सबसे हाल के वैज्ञानिक सिद्धान्त मण्डूक-गति सिद्धान्त ने वैज्ञानिकों की विश्व सम्बन्धी इस कल्पना को हवा में उड़ा दिया है। स्वयं भौतिक-विज्ञान अब वैज्ञानिकों की इस विश्व-योजना का सबसे अधिक विरोधी और आलोचक है। आधुनिक भूत अब भौतिक नहीं रहा। भौतिक पदार्थों का कल्पना-कुसुम अब स्वयं भौतिक-विज्ञान के कारण मुरझा रहा है। सर जेम्सजीन ने १६३४ में कहा था कि उन्नीसवीं सदी के भयावह भौतिकवाद का अब नाम शेष रह गया है। आधुनिक भौतिक विज्ञान आदर्शवाद-अध्यात्म-वाद की ओर

जा रहा है। बीसवीं सदी के लगभग सभी प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानी भौतिक-वाद की मान्यता की जड़ खोद रहे हैं, उससे इन्कार कर रहे हैं। भौतिक-वाद का खण्डन करने वाले विज्ञानों में भौतिक विज्ञान के बाद दूसरा नम्बर शरीर विज्ञान का है। अब सब लोग यह मानने लगे हैं कि विज्ञान व्यक्तित्व, सौन्दर्य-शास्त्र और कला आदि की व्याख्या नहीं कर सकता। उनके रहस्यों का पता नहीं लगा सकता। वैज्ञानिक जिस अवलोकन के आधार पर अपने निष्कर्ष निकालते हैं, वह अवलोकन मनमाना होता है। जिन यन्त्रों से वे देश-कालादि को नापते हैं, वे भी पूर्णतया सही नहीं होते। अवलोकन करने वाले की बुद्धि भी इन निष्कर्षों को दूषित कर देती है। साकल्य-दृष्टि से विचार करने वाले विद्वानों का कहना है कि विज्ञानों से मनुष्य जाति को निस्सन्देह बहुत लाभ हुआ है, परन्तु साथ ही कई महत्त्व-पूर्ण अंशों में वे मनुष्य को मूर्खता, अन्वेषण और सर्वनाश की ओर ले गए हैं।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विज्ञान, भौतिकवाद और हेगल के द्वन्द्ववाद का सम्मिश्रण है। मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त में, प्रकृति-वाद और विज्ञान को मिलाकर हेगल के आध्यात्मिक द्वन्द्ववाद का अर्थ विपर्यय करके, उसे इन दोनों के साथ ला मिलाया है। अतः विज्ञान और भौतिकवाद की अबतक जो आलोचना की गई है, वह सब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर लागू होती है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यह नहीं बता सकता कि द्वन्द्वात्मक प्रगति क्यों होती है? द्वन्द्वात्मक भौतिक-वादियों ने विज्ञान को धर्म मान लिया है और अब जब स्वयं वैज्ञानिक उसकी सीमाओं और कमियों को अनुभव करने तथा मानने हैं, तब द्वन्द्वा-त्मक भौतिकवादी उनका विरोध करते हैं। राल्फ फ्यूम द्वारा अनूदित 'मार्क्सवाद और आधुनिक विचार' नामक पुस्तक की भूमिका में यह लिखा गया है कि इस पुस्तक के सभी मार्क्सवादी लेखक जो अपने-अपने विषय के अधिकारी विशेषज्ञ हैं, सर्वसम्मति से इस बात को स्वी-कार करते हैं कि आधुनिक दर्शन, आधुनिक विज्ञान और आधुनिक इति-

ह्रास की प्रवृत्ति, उन्नति और ऐतिहासिक पद्धति के अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आधार शिलाओं के विरुद्ध है।

वास्तव में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उतना भौतिकवाद नहीं, जितना द्वन्द्ववाद है; उतना विज्ञान-वाद नहीं, जितना प्रयोजन-वाद है; विज्ञान से उसका बहुत कम सम्बन्ध है। सी. ई. एमजोड नामक विद्वान् ने "दर्शन पथ-प्रदर्शन" नामक पुस्तक के चारसौ सतासीवें पृष्ठ पर लिखा है कि इतिहास की भौतिक व्याख्या आर्थिक नियुक्ति-वाद के लिए द्वन्द्ववाद सर्वथा अप्रासङ्गिक है और जहा वह अप्रासङ्गिक नहीं, वहा अनुपयुक्त है। इसी पुस्तक के पाच सौ उन्तालीसवे पृष्ठ पर जोड साहब का कहना है कि समस्त भौतिकवाद आचार शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र के प्रतिकूल है। भौतिक विज्ञान मे उसका आधार अपूर्ण है, तर्क द्वारा उसका समर्थन शक्य नहीं। उन्नीसवीं सदी में भौतिकवाद भले ही ठीक रहा हो, बीसवीं सदी का ज्ञान-विज्ञान उसके अस्तित्व के अनुकूल नहीं।

समस्त भौतिकवादियो का कहना है कि बौद्धिक अनुभव से निकाले हुए निष्कर्षों को यदि हम ऐन्द्रिक अनुभव के साथ-साथ यान्त्रिक अनुभवो से, वैज्ञानिक प्रयोगों से प्रमाणित न कर सके, तो हम ऐसे किसी भी निष्कर्ष को वास्तविक अथवा सही नहीं मानेंगे और चूंकि आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान न तो बुद्धि अथवा तर्क से ही निष्पन्न होता है और न हम अपनी इन्द्रियों अथवा वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा ही उनका प्रमाण पाते हैं, इसलिए हम उनके अस्तित्व को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इनमें और पहले दो मतो मे यही भेद है कि ये ऐन्द्रिक और बौद्धिक दोनों अनुभवों और उनके साथ-साथ यान्त्रिक अनुभवों की सहायता की आवश्यकता को मानते हैं। परन्तु इनसे कोई पूछे कि ऐन्द्रिक और बौद्धिक अनुभवों की तरह यान्त्रिक अनुभवों विज्ञानो के आविष्कारों की भी सीमा है या नहीं? एक तो वैज्ञानिक आविष्कार अथवा यन्त्र अभी अपनी विकास की पूर्णावस्था को नहीं पहुँचे और दूसरे विज्ञान अपने

स्वभाव से ही सीमित है। ऐसी दशा मे यदि वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत अपूर्ण यन्त्रों द्वारा हम विश्व के किसी भाग या उसके किसी सत्य को न देख सके, तो क्या यह मान लें कि विश्व के उस भाग या सत्य का अस्तित्व ही नहीं है? उदाहरणार्थ कोपरनीकस ने सोलहवी सदी में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि विश्व का केन्द्र सूर्य है पृथिवी नहीं। परन्तु उसके इस सैद्धान्तिक सत्य के आविष्कार के लगभग तीन सौ बरस तक कोई ऐसा यन्त्र नहीं मिल सका, जिससे उसकी सत्यता प्रमाणित की जा सके। ऐसी दशा में क्या यह माना जाए कि जब तक (panakau) नाम के यन्त्र का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक पृथिवी ही विश्व का केन्द्र थी?

बीसवीं सदी के विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि भूत के अंतिम परमाणु जड़ नहीं हैं, वह अत्यन्त उत्तेजित हैं, उनकी शक्ति असीम है और वे जीवन से भी अधिक जीवित हैं। विज्ञान का यह विश्वास कि विश्व कार्य-कारण सम्बन्ध या दूध से दही, बबूल से कांटे, मुर्गी से अंडे आदि की कल्पना पर निर्भर है, स्वयं विज्ञान से ही मूढ़-विश्वास सिद्ध हो चुका है। मार्क्स और एञ्जल्स ने पुराण भौतिकवादियों के दोषों और उनके अधूरेपन-तथा एकाङ्गीपन की तीव्र आलोचना करते हुए यह दिखाया है कि प्रकृति जड़ नहीं, सतत् गतिशीला और परिवर्त्तनशील है। परन्तु जिस समय एञ्जल्स ने "द्वन्द्ववाद की कसौटी प्रकृति" (Nature test of Dialecties) नामक पुस्तक में यह लिखा था कि मूल प्रकृति द्वन्द्वात्मक है, आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं, उस समय रेडियम, विद्युत्कणादि का आविष्कार नहीं हुआ था। आधुनिक शरीर-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, मनोविज्ञान, मानव जाति-विज्ञान, जीव-विज्ञानादि उतने नितान्त भौतिकवादी नहीं रहे, जितने पच्चीस बरस पहले थे। मधु-मक्खियों का अमृत नृत्य, पराग-नृत्य, सुगन्ध-प्रसार छिड़कन आदि दैविक व्यवहार डार्विन के, सायोगिक विकासवाद की अपूर्णता का जीवित प्रमाण हैं। इन प्रत्यक्ष घटनाओं के होते हुये डार्विन के भौतिक विकास-वाद पर विश्वास करना, आत्मा पर विश्वास करने से कहीं अधिक कठिन

है। फ्रायडादि मनोविज्ञानाचार्य उन्नीसवीं सदी के समस्त भौतिकवादों का, तीनो भौतिकवादों का खण्डन करते हैं। प्रो० एस० ऐडिङ्गटन ने 'भौतिक संसार का प्रकार' और 'विज्ञान की नई पगडंडिया' नामक पुस्तकों में समस्त भौतिकवादों की कमिया दिखाई हैं। बीसवीं सदी के जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान ने तो उन्नीसवीं सदी के भौतिकवादी विश्व को विलुप्त ही कर दिया है। स्पैंगल्ट ओस्वाल्ड का कहना है कि हर तार्किक व विज्ञानी एक सीमा पर पहुंचकर चुप हो जाता है; क्योंकि इस जगह से श्रद्धा का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। यहा आकर विश्लेषण को स्वयं अपने विश्लेषण का सामना करना पड़ता है। इस समय उसे यह सोचना पड़ता है कि क्या मेरी मूल समस्या कभी हल हो भी सकती है? क्या उसका अस्तित्व भी है? उसने अपनी प्रचुर प्रमाण-पूर्ण सुनिश्चित सम्मति दी है कि समस्त पाश्चात्य विज्ञान अपनी अंतिम अवस्था में पहुंच चुके हैं। तीनों भौतिकवादों का बीसवी शताब्दी में पतन निश्चित है। ये समस्त विज्ञान-वाद अपनी ही, बुद्धि की पैनी तलवार पर गिरकर मरेंगे। लोगों को विज्ञान की सीमाओं का पता होगा और उनकी श्रद्धा बढ़ेगी। Pantactoze ने डार्विन का सिद्धान्त गलत सिद्ध कर दिया है। एच० ब्रीस के गुण-परिवर्त्तन-सिद्धान्त ने उसको जड़ खोखली कर दी है। स्पैंगलर ओस्वाल्ड का कहना है कि बीसवीं सदी में समस्त विज्ञान, विश्व और मनुष्य, विश्व के विशाल अङ्ग के प्रत्यङ्ग रूप में परिणत होगे। ऐसे विज्ञान जब आध्यात्मवाद पर धूल फेंकते हैं, तो वह लौटकर उन्हीं पर गिरती है। वे यह भूल जाते हैं कि यदि ईश्वर की मनोनुकूल कल्पना मनुष्य ने की है, तो विज्ञानों की किसने की है? क्या परमाणुओं का प्रत्येक सिद्धान्त कपोल कल्पित नहीं है? क्या इस समय समस्त विज्ञानों के आधार भूत सिद्धान्तों के प्रति सर्वनाशी सदेह नहीं उत्पन्न हो रहा है? क्या यह सिद्ध नहीं हो रहा है कि जहा व्यक्त विश्व के अव्यक्त मूल को जानने का सवाल आता है, वहा बुद्धि की बधिया बैठ जाती है? "पश्चिम के ह्रास" नामक पाण्डित्यपूर्ण पुस्तक के चार

सौ अट्ठाईसवें पृष्ठ पर उन्होंने यह सत्य बात कही है कि दिन भर की दौड़-धूप से थककर पाश्चात्य विज्ञान अध्यात्मवाद रूपी घर की ओर लौट रहा है।

इस प्रकार समस्त भौतिकवादियों की यह दलील थोथी है कि बौद्धिक-ऐन्द्रिक और यान्त्रिक अनुभव से परे की कोई भी चीज स्वीकार्य नहीं हो सकती। विज्ञान के नाम पर यह दलील देना अपने अज्ञान को विज्ञान बताना है, बल्कि स्पष्ट बात तो यह है कि अध्यात्म-वाद की दृष्टि से समस्त विज्ञान ही अज्ञान हैं। गीता के मतानुसार केवल एक आत्म-परमात्म-तत्त्व ही सत्य है। यही गीता का ज्ञान है। विज्ञान गीता उसे कहती है, जो इस एक में बुद्धि आदि समस्त इन्द्रियों और वैज्ञानिक यन्त्रादि से भी अनेक को देखे। यानी अव्यक्त आत्मा में अनेक व्यक्त नाम-रूपों की सृष्टि करना ही समस्त इन्द्रियों तथा विज्ञानों और वैज्ञानिक यन्त्रों का काम है। इस प्रकार बुद्धि आदि समस्त इन्द्रियों की तरह विज्ञान का यह विशेष काम निश्चित हो जाता है कि वह एक में अनेक को देखे। अनेक में एक को देखने की शक्ति, विश्व के सत्य को जानने की शक्ति, बुद्धि आदि को तो है ही नहीं, वह विज्ञान के क्षेत्र से भी बाहर है।

एक विद्वान का कहना है कि विज्ञान की।वर्त्तमान अवस्था में हमें इस बात का पूरा निश्चय कभी नहीं हो सकता कि विज्ञान का वर्णन सत्य अधिक है या असत्य? वैज्ञानिक केवल यह बताता है कि उसकी खोज के विशेष क्षेत्र में घटनाएं कैसे होती हैं? इन क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी इनके निष्कर्षों के लिए यह अनिवार्य आवश्यकता नहीं कि वे सत्य-ही-सत्य निकलें। विज्ञान के नए-से-नए सिद्धान्त भी निर्भ्रान्त नहीं। वे आशा और अनुभव की खिचड़ी मात्र हैं। अद्वितीय आधुनिक दार्शनिक प्रो० ह्वाइटहेड का कहना है कि स्वयं विज्ञान भी तभी सम्भव है, जब विश्व में जितना वह स्वीकार करता है, उससे कुछ अधिक हो। श्री राजगोपालाचार्य के शब्दों में समस्त विज्ञान अपने मौलिक आधारों में गहरे घुसते

ही आत्मा-परमात्मा से टकराते हैं। प्रो० ह्वाइटहेड का कहना है कि धर्म-सदाचारादि सम्बन्धी ज्ञान उतना ही मान्य है, जितना बाह्य संसार का ज्ञान! उनके नियम विज्ञान के नियमों से किसी भी हालत में कम श्रद्धेय और विश्वसनीय नहीं। यदि हमें ज्ञान-विज्ञान में चुनाव करना पड़े, तो हम ज्ञान को ही चुनेंगे। ए० वुल्फ नामक विद्वान के कथनानुसार परमात्मा प्रगति की प्रक्रिया का उद्देश ही है।

इसीलिए विज्ञान मनुष्य अथवा क्षेत्र में व्यक्तित्व अर्थात् एक तत्व जीवात्मा और ब्रह्माण्ड अर्थात् बाह्य जगत् में सर्वत्र व्याप्त एक तत्व परमात्मा को देखने में असमर्थ है। वहा विज्ञान की गति नहीं। सी० ई० एम० जोड का दर्शन-पथ-प्रदर्शन नामक पुस्तक में दो सौ अड़तालीसवें पृष्ठ पर कहना है कि आत्मा और व्यक्तित्व का ज्ञान वैज्ञानिक पद्धति से नहीं हो सकता। अगर संसार भर के समस्त विज्ञानों के सही-सही और पूरे सिद्धान्तों को इकट्ठा करके जोड़ दिया जाय, तो भी उससे ब्रह्माण्ड अर्थात् सत्य और आत्मा का पता नहीं चलेगा; क्योंकि ये सब पूर्ण के अंश मात्र हैं और पूर्ण केवल अंशों का संघात ही नहीं है, उससे भी परे है। यही बात पिण्ड, क्षेत्र, मनुष्य अथवा जीवात्मा के बारे में है। मनुष्य के सब अंगों के ज्ञान को मिलाकर भी देखा जाय, तो उससे मनुष्य की आत्मा का पता नहीं चल सकता, क्योंकि एक अथवा पूर्ण अंशों का जोड़-योगफल मात्र नहीं है।

हम पहले कह चुके हैं कि ज्ञान के विश्व विहगावलोकन के सामने विज्ञान की दृष्टि कूप-मण्डूकीय दृष्टि है। बात यह है कि दृश्य जगत् के विश्व के विशाल प्रवाह में से किसी भाग विशेष को लेकर उसी में डटे रहना और उसी के नियमों का पता लगाना विज्ञान का विशेष काम, एक-मात्र काम है। इस प्रकार समस्त विज्ञान फिर चाहे वे प्राकृतिक हों या सामाजिक, भव-सागर में से अपने लिए भव-कूप बनाकर, उसीमें सीमित रहकर उसका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करते हैं। अपने-अपने इन सीमित प्रदेशों इन कूपों का उन्हें कितना ही अधिक या विशेष ज्ञान क्यों न हो

जाय, ये मण्डूक अपने कूप जगत् से बाहर की बातों अखिल विश्व की बातों तथा उसके तत्त्व की बाबत बहुत कम जान पाते हैं। उनकी दृष्टि सम्पूर्ण दृष्टि कभी नहीं हो पाती, इसीलिए सब विज्ञानों के सिद्धान्त आंशिक, अधूरे, सत्य, एकाङ्गी, एकदेशीय, शाखाग्राही और परस्पर विरोधी होते हैं। वास्तव में ज्ञान के माने ही सम्पूर्ण सत्य के और विज्ञान के माने आंशिक, सीमित-विशेष सत्य के हैं। मूल्य, महत्त्व, प्रेम, सौंदर्य, आध्यात्मिक आनन्द और ईश्वरानुभूति के लिए विज्ञानों में कोई जगह नहीं है। समस्त विज्ञानों की इस कूप-मण्डूकता का बहुत ही सुन्दर वर्णन विलियम डुरेण्ट ने अपनी दर्शन की कहानी नामक पुस्तक की भूमिका में इस प्रकार किया है:—

मानवीय ज्ञान इतना विस्तृत हो गया है कि उसका प्रबन्ध करना कठिन हो गया है। प्रत्येक विज्ञान से एक दर्जन नए-नए विज्ञान पैदा हो गए, जिनमें से हर एक दूसरे से अधिक सूक्ष्म है। दूर-वीक्षण यन्त्र से इतने तारों और तारक मण्डलों का पता लगा कि जो मनुष्य की गणना-शक्ति से बाहर हैं। भूगर्भ-शास्त्र हजारों की जगह करोड़ों बरसों की बातें करता है। भौतिक-विज्ञानियों को परमाणुओं में विश्व मिल गया और जीव-विज्ञान को अणुगुच्छकों में पिण्ड। शरीर-विज्ञान को हर इन्द्रिय में अज्ञेय रहस्य का भान हुआ और मनोविज्ञान को हर स्वप्न में। अर्वाचीन इतिहास ने पहले के समस्त इतिहास को गलत साबित कर दिया। विशेषज्ञों को अल्पाल्प विषयों के बारे में अधिकाधिक ज्ञान होता जा रहा है। स्पेंगलर और एडवर्ड मीयर जैसे प्रज्ञा-चक्षु ही इस सम्पूर्ण ज्ञान का दर्शन कर सकते हैं। इस ज्ञान से अधिदेवता पंथ पददलित हो गया है और राजनीति के सैद्धान्तिक भवन की भित्तियों में दरारें हो गई हैं। फिर भी इन विज्ञानों के नियम और निष्कर्ष अधूरे और अस्थायी हैं। ऐसे विज्ञानों के बल पर किया हुआ भौतिक वादियों का उपर्युक्त समस्त दावा आने आप भ्रान्त और निराधार सिद्ध हो जाता है।

गीता के और भौतिकवादियों के विश्वोत्पत्ति-विकास सम्बन्धी

सिद्धान्तों की तुलना करके देखिये। गीता का अध्यात्मवाद और प्राच्य तथा पाश्चात्य भौतिकवाद दोनों इस बात को मानते हैं कि किसी एक ही मूल वस्तु से समस्त संसार की सृष्टि हुई है, परन्तु गीता का कहना है कि यह वस्तु-तत्त्व, आत्मा-परमात्मा है और भौतिकवादियों का कहना है कि वह मूल वस्तु मूल प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नही। इन दोनों मतों के तुलनात्मक विवेचन के लिए यह आवश्यक है कि पहले समस्त पाश्चात्य भौतिकवादियों के सिद्धान्तों के विकास का संक्षिप्त इतिहास देकर कपिल-मुनि के अर्थात् साख्यों के भौतिकवाद से उसकी तुलना कर ली जाय, क्योंकि एक मूल प्रकृति ही से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है इस बात में साख्यों का और पाश्चात्य भौतिकवादियों का मत एक है। लेकिन हैगल प्रभृति पुराण भौतिकवादियो की विश्व-सम्बन्धी व्याख्या को सदोष और अपूर्ण पाकर डार्विन प्रभृति यान्त्रिक अथवा वैज्ञानिक भौतिकवादियों ने साख्यों के 'गुणा-गुणेषु वर्त्तन्ते' इस सिद्धान्त के समस्त गुण-परिणाम से विकासवाद के सिद्धान्त की सृष्टि की। परन्तु डार्विन का विकासवाद भी ऐन्द्रिय सृष्टि की, इन्द्रियों के विकास की समुचित व्याख्या न कर सका और न जीवन के विकास का ही समाधानकारक युक्ति-युक्त कारण बता सका। फलस्वरूप बर्गसा ने सृजनकारी विकासवाद और सी० लायड मौर्गन ने अभ्युदयात्मक विकासवाद के सिद्धान्तों द्वारा डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त के दोषों और उसकी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया। अन्त में हैगल के द्वन्द्वात्मक प्रगति के सिद्धान्त को भौतिकवाद में लागू करके मार्क्स और एंजिल्स ने गुणोत्कर्ष अथवा विकासवाद के सिद्धान्त को कपिल मुनि के साख्य-शास्त्र के सिद्धान्त के नजदीक पहुँचा दिया। विश्व की उत्पत्ति और उसके विकास-सम्बन्धी साख्यों के सिद्धान्त में एक ही मूल प्रकृति से समस्त सृष्टि के गुण-परिमाणवादी विकास के तथा द्वन्द्व-समन्वयात्मक प्रगति के सिद्धान्तों का समावेश है, और उसमें सेन्द्रिय सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या भी पूर्ण है। तीनों प्रकार का पाश्चात्य भौतिकवाद अभी साख्यों

के भौतिकवाद से भी पीछे है, क्योंकि उसमें द्वन्द्व की कल्पना करके भी यह नहीं बताया गया कि एक ही मूल प्रकृति में यह द्वन्द्व कहां से आया ? सांख्यों ने मूल प्रकृति के साथ पुरुष की कल्पना करके इस दोष को दूर कर दिया है, परन्तु सांख्यों के इस द्वैत अथवा द्वन्द्व से किसी एक ही मूल वस्तु से समस्त संसार की सृष्टि होने के सिद्धान्त को व्याघात पहुँचता है। सांख्यों के इस भौतिकवादी दोष को गीता ने प्रकृति और पुरुष-रूपी द्वन्द्वों–द्वैत–को एक ही आत्मा-परमात्मा की कनिष्ठ और श्रेष्ठ प्रकृति बताकर दूर कर दिया है। इस प्रकार गीता का विश्वोत्पत्ति-विकास सम्बन्धी सिद्धान्त आज ढाई हजार बरस बाद भी पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की इतनी उन्नति और वृद्धि होने के बाद भी अक्षुण्ण और सर्वोत्तम पाया जाता है। यही कारण है कि आधुनिक बीसवीं सदी के ज्ञान-विज्ञान का प्रवाह एक दम गीता के विश्व का समर्थन करने की ओर मुड़ पड़ा है।

: ५ :

वैज्ञानिकों का समर्थन

अर्ल आफ बाल्फोर का कहना है कि विज्ञान के प्रमाण-पत्र धर्म से बढ़कर नहीं। उन्होंने सिद्ध किया है कि विज्ञान तथा धर्म दोनों ही सिद्धान्त हैं, यद्यपि दोनों के ध्येय भिन्न-भिन्न हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि आत्मा-परमात्मा को माने-बिना स्वयं विज्ञानों के माने हुए मूलाधार सिद्धान्त का कोई प्रमाण नहीं मिलता। दोनों को श्रद्धा-पूर्वक ही मानना पड़ता है। समस्त विज्ञान किसी-न-किसी मूल सिद्धान्त को श्रद्धा-पूर्वक मानकर ही चलते हैं और इस मूल सिद्धान्त को वे न तो प्रमाणित ही करते हैं न कर ही सकते हैं। "अर्वाचीन विज्ञान की आध्यात्मिक नींव" नामक पुस्तक में बर्ट साहब ने यह सिद्ध किया है कि समस्त विज्ञानों का आधार भी आध्यात्मिक ही है, भौतिक नहीं।

सर जेम्स जीन ने अपनी 'रहस्यवादी विश्व' नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि बीसवीं सदी का विश्व भौतिकवादी न रहकर अध्यात्म-वादी मालूम होता है। ह्यूम ने वैज्ञानिकों के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त की धज्जियां उड़ाकर उनकी विश्व-योजना का पहले ही अर्थ-हीन-निस्सार सिद्ध कर दिया था। बीसवीं सदी के भौतिक-विज्ञान और अन्य विज्ञानों ने तथा सापेक्षता-सिद्धान्त और मण्डूक-गति सिद्धान्त ने तो भौतिकवादियों के भूत को एकदम ही अदृश्य कर दिया। केसरलिङ्ग के शब्दों में जो भौतिकवाद एक विशाल सांप की तरह समस्त पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को अपनी घातक लपेट में जकड़े हुए था, वह स्वयं

अब अंतिम सासें ले रहा है । ढाका-विश्व-विद्यालय के भौतिक-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष जीव-विज्ञान तथा नूतन-तम आविष्कारक भौतिकवाद के विरुद्ध हैं । वे यह नहीं मानते कि प्रोटोज़न यन्त्रवत् काम करता है । भारत के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो. एस. एन. बोस ने जनवरी १९४४ में नई दिल्ली में अखिल भारतीय वैज्ञानिक परिषद के सभापति की हैसियत से यह कहा था कि यद्यपि भौतिक-विज्ञान ने हमारे लाभ के लिए अश्रुतपूर्व और आश्चर्यजनक आविष्कार कर दिखाए हैं, परन्तु सिद्धान्त-क्षेत्र में उसकी गति अपनी सीमा तक पहुँच गई है। वैज्ञानिकों का ज्ञान-भडार बढ़ा है, परन्तु उनका विश्वास नष्ट हो गया है। 'महान् योजना' नामक अधिकृत और प्रामाणिक पुस्तक में चौदह जगत्-प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की आजीवन खोज के आधार पर यह लिखा गया है कि यह विश्व आत्माहीन मशीन नही, न वह अन्धे संयोग का फलहै। प्रकृति के परदे के पीछे माइण्ड है, फिर चाहे उस माइण्ड को आप कुछ भी कहकर पुकारिये ।

पाश्चात्य विज्ञान की तरह पाश्चात्य ज्ञान भी विश्वोत्पत्ति-विकास-के सम्बन्ध में गीता के अध्यात्म-वाद का समर्थन करता है। काण्ट, आदि तो पहले ही उसके समर्थक थे। और काण्ट की गणना समस्त यूरुप के सब कालों के आधे दर्जन सर्वोच्चकोटि के दार्शनिकों में है और हाल्डेन के मतानुसार काण्ट के सौ बरस बाद का ज्ञान-विज्ञान उसके मत का समर्थन करता है। अर्वाचीन ह्वाइट हैड आदि दार्शनिक भी ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। एडल्स हक्सले ने The Gray Eminence नाम की हाल की पुस्तक में स्पष्ट रूप से गीता के आत्म-योग अथवा आत्मरति-योग का समर्थन किया हैं ।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि गीता के अध्यात्मवाद रूपी प्रह्लाद का उसके शत्रु भौतिकवाद रूपी हिरण्यकुश की आलोचना की आंच कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी। उल्टा वह स्वयं जलकर खाक हो गई-बुझ गई। गीता का आत्मा-परमात्मा का सत्य-स्वर्ण भौतिकवादी आलोचना

की आंच में तपाये जाने पर और भी चमक उठा । अध्यात्मवाद के मुकाबले में विज्ञान और भौतिकवाद के दावे थोथे और उनकी भौतिक सफलता के चकाचौंध से उत्पन्न अति विश्वास और अंध विश्वासों पर आधारित हैं । संक्षेप में गीता का विश्व सम्बन्धी अध्यात्म-सिद्धान्त सातवें अध्याय के चौदहवे श्लोक में दिया गया है । इस श्लोक में कहा गया है कि मेरी माया अर्थात् विश्वोत्पत्ति की प्रक्रिया गुणमयी अर्थात् गुण-विकास शील और दैवी अर्थात् प्रगतिशील है । इसका पार वे ही पा सकते हैं, जो आत्मा की प्रपत्ति को स्वीकार करते हैं, अर्थात् जो अध्यात्म-वादी हैं । इसी एक श्लोक में गीता के समस्त विश्वोत्पत्ति विकास और प्रगति की प्रक्रिया को पूर्ण रूप से बता दिया है ।

द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद की भाषा में आत्मा की इस प्रपत्ति को यों कहा जायगा । प्रत्येक का यह ज्ञान कि मैं हूँ, यह वाद हुआ । मैं हूँ के साथ ही प्रत्येक का यह ज्ञान कि मेरे अतिरिक्त यह सब दृश्य जगत् भी है, जो मुझसे अलग यानी मैं नहीं हूँ यह मैं हूँ वाद का मैं नहीं हूँ के रूप में प्रतिवाद हुआ । अंत में मैं नहीं हूँ, इस मैं के निषेध का निषेध, अथवा मैं हूँ और मैं नहीं हूँ, इसका परस्पर विरोधी द्वन्द्व का समुच्चय मैं नहीं, नहीं हूँ हुआ । अर्थात् जो आत्मा-परमात्मा की दूसरी प्रकृति से पृथक् नहो, दोनों उसी एक के दो पहलू भी हैं, जो उसी में लीन अर्थात् समु-च्चित होते हैं ।

प्रकृति की दृष्टि से इस अध्यात्म-सिद्धान्त की प्रगति यों होती है:—(१) प्रकृति (२) जीव, (३) मन और (४) मन से परे की शक्ति । मन की दृष्टि से यही प्रगति यों है; (१) अचेतन, (२) अर्धचेतन, (३) चेतन और (४) अति चेतन । मानव की दृष्टि से यही प्रगति इस तरह कही जायगी; (१) प्रकृति, (२) पुरुष, (३) पुरुष और (४) पुरुषोत्तम ।

विश्व की इस अध्यात्मवादी व्याख्या से न केवल विश्वोत्पत्ति-विकास का सब रहस्य ही स्फटिक की भाति समझ में आ जाता है, परन्तु उसकी प्रगति की प्रक्रिया भी न तो मनोवैज्ञानिकों के चेतन तक पहुँचती और न

भौतिकवादियों के पुरुष पर पहुँच कर सकती है, बल्कि चेतन से अति-चेतन तक और पुरुष से पुरुषोत्तम तक, नर से नारायण होने तक जाती है।

इससे न केवल विश्व के विकास के कैसे का ही पता चलता है, बल्कि उसके क्यों और किसलिए का भी उत्तर मिल जाता है, जिसका उत्तर समस्त प्राच्य और पाश्चात्य भौतिकवादी अभी तक नहीं दे पाए। मानव-समाज की दृष्टि से मानव की प्रगति की गति भी श्रेणी-संघर्ष के साथ-साथ नहीं रुकती। अध्यात्मवाद का यह सिद्धान्त मानव को न केवल अपने भाग्य अथवा इतिहास का स्वयं निर्माता बताता है, बल्कि उसे यह भी बताता है कि तुम नर से नारायण तक प्रगति कर सकते हो। हिन्दी के एक कवि ने इसी उत्कृष्ट सिद्धात को इन सुन्दर शब्दों में स्पष्ट किया है:—"नर जो पै करनी करै, तो नारायण ह्वै जाइ।"

मानव अपने इतिहास का निर्माण स्वय करता है, यह भौतिकवादी संदेश अध्यात्मवाद के नर से नारायण तक हो सकने की सामर्थ्य देने वाले सदेश के सामने कितना फीका मालूम होता है।

निस्सन्देह आत्मा-परमात्मा का यह आध्यात्मिक विकास और द्वन्द्वात्मक प्रगति का सिद्धान्त ऐन्द्रिक, बौद्धिक और यान्त्रिक अनुभव के परे, अचिन्त्य और अनिर्वाच्य है। परन्तु उसका अचिन्त्य और अनिर्वाच्य होना उसके त्रिकाल वाधित सनातन सत्य के विरुद्ध कोई दलील नहीं हो सकती।

आत्मा के स्वरूप का तो कहना ही क्या, मानव अभी अपने देह के ही रहस्य को नहीं जान पाया है। अभी मानव को, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को यही पता नहीं कि जीवन कैसे शुरू हुआ? प्रकृति के कुछ अणु पहले-पहल कैसे सगठित हो गये, विद्युत्-कण कैसे बढे और चलने लगे, मानव अपने को कैसे उत्पन्न करके भोजन कैसे पचाने लगा, जब कि शेष परमाणु अभी तक पूर्ववत् जड़ बने हुए हैं? अमर फ्रांसीसी लेखक वाल्टेयर के शब्दों मे मनुष्य-शरीर की बनावट का थोड़ा-सा अंश जानने में हमें तीन हजार बरस लगे हैं। इस हिसाब से उसकी

आत्मा का हाल जानने के लिए तो अनन्तकाल चाहिए। अनुपम और धुरन्धर ज्ञानी-विज्ञानी डाक्टर एलैक्स कैरल ने 'अज्ञात मानव' नाम की पुस्तक ही यह दिखाने को लिखी है कि अभी बीसवीं सदी तक भी हमें स्वयं मानव के सम्बन्ध मे भी ऐसा कुछ ज्ञान नही है।

सर जेम्स जीन के शब्दों में इस संसार मे जीवन की उत्पत्ति हुए सवा अरब बरस हो चुके। मानव-जीवन को दस लाख बरस और मानव-सभ्यता को तीन हजार बरस। संसार के समस्त जीवन को यदि सत्तर बरस का मान लिया जाय, तो मानव-जीवन विश्व-जीवन के उपर्युक्त काल-माप से कुल तीन दिन का हुआ। उसमें भी मानव के चेतन मन को उत्पन्न हुए अभी कुछ मिनट ही हुए हैं। चन्द मिनटों का यह बच्चा यदि विश्व के रहस्य, आत्मा को नहीं समझ सके, तो उससे आत्मा का अस्तित्व थोड़े ही मिट जायगा? ऐसी बुद्धि के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को न मानना अक्षरशः बौद्धिक बचपन है।

जहाँ तक अचिन्त्यता से सम्बन्ध है, गणित के अधिकतर सत्य, शून्य, असीमता, सर्ड (surds) आदि मानव-कल्पना के लिए सर्वथा असम्भव है। फिर भी वे इतने सत्य हैं कि उन्हींके आधार पर रेल के पुल इत्यादि सब बनते हैं।

इतना ही नहीं, वैज्ञानिकों का भूत, परमाणु, विद्युत्-कण आदि भी न केवल इंद्रियातीत और जन्मातीत हैं, बल्कि साधारण मनुष्य के लिए कल्पनातीत भी हैं, फिर भी उनसे एक्सरे, रेडियो आदि आश्चर्यजनक सिद्धियाँ मिली हैं। कैंसर आदि की चिकित्सा होती है। ऐसी हालत में यदि अध्यात्मवादी पहले ही से यह स्पष्ट कर देते हैं कि आत्मा-परमात्मा भी इंद्रियों से, बुद्धि और विज्ञान के लिए अचिन्त्य है, वे दिव्य-दृष्टि, ज्ञान-चक्षु और स्वयं आत्मानुभव से ही जाने जा सकते हैं तो इसमें आश्चर्य और अविश्वास की क्या बात है? और विशेष कर उस युग में जब कांण्ट जैसे दार्शनिक धर्म-बुद्धि का, बुद्धि के परे की शक्ति का, बर्गसाँ जैसे जीवन-विज्ञान के आचार्य दिव्य-दृष्टि का, जार्ज सत्तायन धार्मिक

विश्वासों का और प्रसिद्ध प्रयोजनवादी विलियम जेम्स ईश्वर के अस्तित्व का, ह्वाइट हैड स्वानुभूति का और एल्डस हक्सले आत्म-योग का समर्थन कर रहे हों ? इतना ही क्यों उस युग में जब यूरोप के अनेक ज्ञानी-विज्ञानी अन्तर्यामित्व, भविष्य-दर्शन, प्रेतात्माओं से सम्भाषणादि शक्तियों के अस्तित्व का समर्थन करते हों और अति-भौतिक नामक पुस्तकों में ए० डब्लू० ओसबोर्न अतीन्द्रिय तथा अलौकिक शक्तियों की सत्ता को स्वीकार करते हों ? जब अनेक पाश्चात्य विद्वान् दूसरे लोकों और उन लोकों में मानवेत्यादि प्राणियों के अस्तित्व की सम्भावना को मानते हों ? जब 'आध्यात्मिक अभ्यास' Spiritual Exercises नामक पुस्तक के दो सौ दोवें पृष्ठ पर मिस टिलयार्ड मैरी लाताास्ते (किसान-कुमारी) आदि के उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध कर रही हों कि आत्म साक्षात्कार सम्भव है ? जब उत्तरी कैरोलीन की ड्यूक यूनिवर्सिटी में प्रो० राइन वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा भविष्य-दर्शन, पूर्व सूचनादि के अस्तित्व को सिद्ध करते हों।

जब हम प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानाचार्यों के निष्कर्षों को ही नहीं, लोक-व्यवहार की अधिकांश निन्यानवे फीसदी बातों को दूसरों के अनुभव के आधार पर केवल श्रद्धा-विश्वास के बल पर मानकर चलते हैं, जब समस्त विज्ञान स्वयं श्रद्धा पर निर्भर हों, तब आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अनुभवों के विषय में हम इन सबसे कहीं अधिक शुद्ध बुद्धि वाले आत्मा-नुभवी योगियों के अनुभवों को श्रद्धा-विश्वासपूर्वक क्यों न मानें ? जब प्रत्येक विज्ञान को अपना मौलिक आधार श्रद्धा-विश्वास पूर्वक ही, बिना किसी प्रमाण के मानना पड़ता है, तब समस्त ज्ञान-विज्ञान के मूलाधार आत्मा-परमात्मा को ही श्रद्धा-विश्वास पूर्वक मानने में क्या आपत्ति होनी चाहिए ?

वैज्ञानिकों के आकर्षण सिद्धान्त का आविष्कार करने वाले जिस न्यूटन के बारे में एक कवि ने यह लिखा था कि चारों ओर अन्धकार था, निविड़ निशा थी, परन्तु न्यूटन का जन्म होते ही दिन हो गया

अर्थात् चारों ओर प्रकाश फैल गया, उस न्यूटन का कहना है कि आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को मानने के लिए हमे जितने श्रद्धा-विश्वास की आवश्यकता है भूत अर्थात् प्रकृति को मानने के लिए भी उतने ही श्रद्धा-विश्वास की आवश्यकता है। अर्ल आफ बाल्फोर के इस कथन से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विज्ञान के प्रमाण-पत्र अध्यात्म के प्रमाण-पत्रों से किसी भी दशा में बेहतर नहीं। उनके कथनानुसार अन्त में अध्यात्म और विज्ञान दोनों का आधार श्रद्धा-विश्वास ही है। आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किये बिना विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को मानना भी कठिन हो जाता है। ए० बल्फ नामक विद्वान् के मत में तो वैज्ञानिक स्वयं किसी-न-किसी प्रकार के आत्मवाद की ही शरण ले रहे हैं। वैज्ञानिक, आविष्कारों का प्रकाश भी रहस्यवादी प्रकाश की तरह यकायक किसी क्षण विशेष में न जाने कैसे हो जाता है? डार्विन को गाड़ी में बैठे-बैठे अपना विकास-सिद्धात सूझा, न्यूटन को बगीचे में बैठे-बैठे सेब को गिरते देखकर यकायक आकर्षण-सिद्धात सूझ गया। आरकी मैडीस को पानी में नहाते हुए यकायक अपनी समस्या का हल सूझा, फलस्वरूप वह इतना बेसुध हो गया कि भीगा और नंगा ही वहां से भागकर अपनी अध्ययनशाला में उसे लिखने चला गया। स्पष्ट है कि इन सबकी ज्ञान-शक्ति अकस्मात् ही प्रकाशमयी हुई थी। ए. ई. टेलन्ट ने एक "आचार-शास्त्री की श्रद्धा" नामक पुस्तक में कहा है कि विज्ञान की भाति यदि अध्यात्म भी अपने मूलाधार सिद्धान्त को मानकर चलता है, तो उसी की यह श्रद्धा क्यों कम विश्वसनीय मानी जाय? डब्लू. बिराडरलैण्ड ने भी यही कहा है कि व्यक्तित्व के रहस्य की अन्तर्दृष्टि एक कला है विज्ञान नहीं। एचङ्गोम की भी यही राय है कि जीवन-लीला को केवल भौतिक रासायनिक क्रियाओं से नहीं समझाया जा सकता। जीव-विज्ञानक भी काम विकास को सोद्देश्य माने बिना नहीं चला। एच. वैहिंगर का मत है कि विज्ञानों में भी बहुत सी गपोड़े बाजिया हैं, यद्यपि वे उपयोगी हैं। इस तरह अर्वाचीन समय के पाश्चात्य विचार रूपी झूले का

झुकाव वेदान्त और अध्यात्मवाद की ओर है। प्रो० डब्लू. आर. सोरले का मत है कि विश्व की व्याख्या के लिए आत्मा-परमात्मा की कल्पना सबसे अधिक उपयुक्त है।

प्रो. ह्वाइट हेड का कहना है कि विश्व के लिए ईश्वर और ईश्वर के लिए विश्व अनिवार्यतः आवश्यक है। एच० कोहन भी इसी मत के समर्थक हैं। और थूकेन नामके एक जर्मन विद्वान् ने "मानव-जीवन की समस्या" नामक पुस्तक में यह मत प्रकट किया कि सर्वोपरि सत्य आध्यात्मिक जीवन है, जो प्रकृति से परे है, फिर भी उसमें इस तरह व्याप्त है कि प्रकृति-रूपी सीढी पर चढकर आप उस तक पहुंच सकते हैं। यह बनी-बनाई वस्तु नहीं, वह विकसित होती है। आत्म-योग द्वारा मनुष्य इस आत्मा के स्वरूप को जान सकता है। कला, धर्म, विज्ञानादि की सब स्फूर्त्तियां इसी आत्मा के फल तथा उसकी सूचिका हैं। अब रही अनिर्वाच्यता की बात, सो मानवी भाषा अभी अत्यन्त अपूर्ण सूर्य निकल आया—डूब गया—द्वैती जगत् का अद्वैत का वर्णन कैसे करे? भाषा की इसी दरिद्रता के कारण आधुनिक ज्ञानी-विज्ञानी नई भाषा की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। बर्ट्रांण्ड रसल ने तो यहां तक कहा है कि आज की मानव-भाषा-विज्ञान के विद्युत्-कणादि वाले विश्व का वर्णन करने में भी असमर्थ है। सारांश यह कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान अब विश्वोत्पत्ति-विकास के सम्बन्ध में गीता के अध्यात्मवादी सिद्धान्त की ओर झुक रहा है। और पाश्चात्य विज्ञान का किया हुआ आत्मा-परमात्मा की विश्व मूर्त्ति (विश्व की विशालता और विचित्रता) का वर्णन गीता के ग्यारहवें अध्याय में इसी विश्व-मूर्त्ति के काव्यमय वर्णन से भी अधिक आश्चर्यजनक और रहस्यमय होने के कारण इस कहावत को सिद्ध कर रहा है कि सत्य कल्पना से अधिक विस्मय-जनक होता है।

विज्ञान का विश्व इतना विशाल है कि सूर्य की रोशनी को उसके एक छोर से दूसरे छोर तक जाने में चौदह करोड़ बरस लगेंगे। उसमें न जाने कितने सौर-मण्डल हैं। प्रत्येक परमाणु में अपना सौर-मण्डल अलग-अलग

ज्ञात हुआ है। हमारा सूर्य हमारी पृथिवी से नौ करोड़ तीस लाख मील दूरी पर है और उससे पन्द्रह लाख गुना बड़ा है। पृथिवी तो सूर्य-मण्डल का एक छोटा-सा ग्रह है। सूर्य इतना गरम है कि उसमें लोहा, निकल, ताँबा, टीन आदि धातुएं पिघल-जलकर गैस की शकल में हो गई हैं।

इतने विशाल विश्व के मूलाधार आत्मा-परमात्मा का बुद्धि-इन्द्रियादि से परे होना कौन आश्चर्य की बात है; विशेषकर उस समय जब हर्बर्ट स्पैंसर जैसा भौतिकवादी और विज्ञानवादी यह मानता हो कि बहुत-सी चीजें बुद्धि से परे होती हैं। जब न्यूटन जैसा यान्त्रिक भौतिकवादी यह कहता है कि वह प्रकृति की अपेक्षा ईश्वर के सम्बन्ध में अधिक जानकारी रखता था। जब महान् वैज्ञानिक रौबर्ट बोमले और सर औलीवर-लाजादि आत्मा-परमात्मा में विश्वास रखते हों, जब बर्गसा जैसे ज्ञानी-विज्ञानी अध्यात्मवाद को स्वीकार करते हों, तब आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व से इनकार करना वैसा ही है, जैसे सूर्य के अस्तित्व से इनकार कर बैठना। क्योंकि सूरज हमारी सिगरेट नहीं सुलगाता, आत्मा-परमात्मा संगीत की तरह है। उस प्रभु की मूर्त्ति सबको अपनी भावना-नुसार दिखाई देती है। जैसे संगीत उदास को अच्छा, शोकग्रस्त को बुरा और मुर्दे को बेकार होता है, उसी तरह आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में हमारी धारणा बहुत हद तक स्वयं हम पर निर्भर रहती है। वाल्टेयर का यह कहना बिलकुल सही है कि मूर्ख ही निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि जो हम कहते हैं, वही सही है। जो मनुष्य यह नहीं जान सकता कि वह अपना हाथ क्यों चलाता है, जिसे अपने शरीर के भीतर निरन्तर होने वाली रस, परिपाक, पाचन, रक्त-सञ्चारादि क्रियाओं का भी पता नहीं, वह ईश्वर की परिभाषा कैसे कर सकता है? जीवन तथा अस्तित्व-मात्र में जो आनन्द प्रतीत होता है, वृद्धि, उन्नति और विकास की जो सतत धारा प्रवाहित हो रही है आत्मा-परमात्मा के प्रति जो अटूट श्रद्धा अद्यावधि बनी हुई है, विश्व की आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में जो विश्वास बलवान हो रहा है, वह सब सच्चिदानन्द के अस्तित्व का

सर्वोत्तम प्रमाण है।

अध्यात्मवाद के अनुसार विश्व के त्रिसीढ़ीवत् विकास-चक्र के सिद्धान्त का भी बीसवीं सदी का विज्ञान समर्थन कर रहा है। दर्शन, विज्ञान और इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व सदैव प्रभव ही नहीं होता, प्रलय भी है। सर जेम्स जीन ने "ज्योतिष और विश्व-शास्त्र" नामक पुस्तक में सतत प्रगति की कल्पना की धज्जियां उड़ा दी हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से विनाश की ओर जा रहा है। अन्त में केवल कुहरा-मात्र रह जायगा। एच० जी० वेल्स ने "होमो सैपियन का भविष्य" नामक पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि मानव-समाज अधोगति के गर्त्त की ओर जा रहा है।

"सब धर्मों का एक ही सार" नामक पुस्तक मे डाक्टर भगवानदास ने एक सौ अड़तीसवें पृष्ठ पर यह जो लिखा है कि वैज्ञानिक भौतिक-वाद मर गया, आत्मा को माने बिना न विश्व रहता है न विज्ञान. सब मे संदेह किया जा सकता है, पर आत्मा अर्थात् अपने आप में नहीं, यह अक्षरशः सत्य है। आत्मा-परमात्मा निस्सन्देह अचिन्त्य हैं, परन्तु जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अचिन्त्य तो अनेक वैज्ञानिक और विश्व-सम्बन्धी बातें तथा कल्पनाएं भी हैं। यह भी सही है कि दर्शनों और विज्ञानों ने आत्मा-परमात्मा का रहस्य जानने के जितने प्रयत्न किये, सब निष्फल हुए। देश, काल, कार्य-कारण-भाव सम्बन्धी समस्त बाह्य और आभ्यन्तरिक कल्पनाएं भ्रमपूर्ण सिद्ध हुईं। दर्शनो और विज्ञानों के सिद्धान्त परस्पर विरोधी, एक दूसरे का खण्डन करने वाले निकले। मानव-बुद्धि आत्मा-परमात्मा की थाह न पा सकी, परन्तु यह तो होना ही था। इसी से आत्मा-परमात्मा की सत्यता सिद्ध होती है। इसी विफलता के फलस्वरूप भौतिक विज्ञानी प्रोफेसर ई० ए० एस० ईव, जीव विज्ञानी सर जेम्स थैमसन और प्रथम सिद्धान्तों के अन्तिम सशोधित संस्करण में स्पेंसर तक ने अध्यात्मवाद का समर्थन किया।

स्पैंगलर ओस्वाल्ड ने "पश्चिम का ह्रास" नामक पुस्तक के उत्तरार्ध

में एक सौ पाचवें पृष्ठ पर विश्व-सम्बन्धी सत्य का अति सुन्दर वर्णन करते हुए यह कहा है कि कोई विज्ञान उसका पता पा ही नहीं सकता।

उसका कहना है कि अत्यन्त रहस्यमयी आत्मा का ज्ञान असम्भव है। हां, विकासवाद के विचार का इतना विकास अवश्य हुआ है कि डार्विन की भौतिक उन्नति की जगह गढ़े के आत्म-पूर्ति (अध्यात्मवाद) के सिद्धान्त ने ले ली है। विश्व के विकास का तर्क-शास्त्र अध्यात्ममय है। बुद्धि से उसका पता लगाने से हास्यास्पद परिणाम होते हैं, जैसे ल्यूथर, रूसो, मार्क्स के प्रयत्नों से हुआ (पृष्ठ १४१)।

इन सब बातों के होने हुए हम अध्यात्मवाद को भौतिकवाद से कहीं अधिक सत्य, पूर्ण सत्य क्यों न माने ? यह क्यों न माने कि आत्मा-परमात्मा समस्त जगत् में व्याप्त है, परन्तु आवृत्त है, वह बुद्धि, मन, प्राण, शरीर सबसे परे है, परन्तु सबको विकसित करने वाला है। हम यह क्यों न मानें कि दिव्य व्यक्तियो में सीमित है, वही उसे प्रकृति से ऊपर उठकर दिव्यता की ओर, चलने, परात्पर न होने को निरन्तर प्रेरित करता रहता है ? पाश्चात्य आत्म योगियों का साहित्य पढ़ने से यह स्पष्ट है कि वे सब-के-सब भ्रम के शिकार नहीं हो सकते। प्रेतात्माओं से बातचीत करने और दूसरे लोकों के अस्तित्व पाने तथा विशाल विश्व के कोने मे मानव से कहीं अधिक बुद्धि-सम्पन्न प्राणियों के अस्तित्व के सम्बन्ध मे वे जो कुछ कहते हैं, उसे हम कैसे अस्वीकार करे ? हम इस सत्य से कैसे इनकार कर दे कि मानव-शक्तिया विकसित तथा परिवर्द्धित होती रहती हैं। मानव चेतन-बुद्धि से परे उठकर अवचेतन अन्तर्दृष्टि का विकास कर सकता है ? धर्म और विज्ञान को परस्पर विरोधी मानने के बदले हम यह क्यों न मानें कि दोनों एक ही सत्य के दो पहलू या नाम हैं ? हम यह क्यों न मानें कि जैसे बर्त्तनों में पानी, ईंधन में आग, लैम्पों में रोशनी, संसार में सूर्य की करणें रहती है, वैसे ही आत्मा सर्व व्यापी है। योग सिद्ध, आत्म-विभूति, सूक्ष्म-शरीर, मनोपम जगत् के समस्त प्रमाणों को अज्ञानवश ठुकरा देना कहा की बुद्धिमानी है ? यह कहा की बुद्धिमानी

है कि हम इस प्रत्यक्ष सत्य से आखें मूंद लें कि हम सब एक ही तत्त्व से सम्भूत हैं? उसी से, एक दूसरे से ही, सब जीवित और अवलम्बित, सम्बन्धित तथा परस्पर प्रभावित हैं।

: ६ :

गीता का कर्म-शास्त्र

मानव-जीवन में अनेक बार ऐसे प्रसङ्ग आ जाते हैं, जब हमें यह सोचना पड़ता है कि अमुक काम करें या न करें? इस काम को न करने से पाप होगा या पुण्य? धर्म होगा या अधर्म? उसे करना न करना शुभ है या अशुभ? यह काम अच्छा है या बुरा? उचित है या अनुचित? हितकर या अहितकर? कल्याणकारी है या अकल्याणकारी? वह कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य? ऐसे अवसरों पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है। स्वयं गीता में कहा है कि क्या कर्म है क्या अकर्म, इसका निर्णय करने में बड़े-बड़े विद्वान् मुसीबत में पड़ जाते हैं। इस निर्णय के लिए कर्म, अकर्म, विकर्म सभी की अच्छी और सही जानकारी होनी चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बहुत ही गहन है। यदि एक कर्त्तव्य का पालन करते हैं, तो दूसरे की अवज्ञा होती है। और दूसरे का पालन करते हैं, तो पहले की अवहेलना। अर्जुन को कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में जो शंका पैदा हुई थी वैसी शंका प्रत्येक मनीषी के सामने आ उपस्थित होती है। इस दृष्टि से अर्जुन सनातन मानव है और गीता उसका सनातन सञ्जीवन-शास्त्र। सनातन मानव की सनातन शंका का समाधान करने के लिए ही गीता के सनातन सञ्जीवन-शास्त्र की सृष्टि हुई थी।

वर्त्तमान-काल में यही धर्म-संकट द्वितीय महायुद्ध के समय कोटि-कोटि कांग्रेसजनों के सामने आया था। स्वदेश की स्वाधीनता के प्रति

उनका पवित्र कर्त्तव्य भाव उनसे कहता था कि इस अवसर का पूरा लाभ उठाकर अंग्रेजों को इस बात के लिए विवश कर दो कि वे हिन्दुस्तान को छोड़कर चले जाय, उसे अपने पापमय पराधीनता-पाश से मुक्त कर दें। दूसरी ओर अंग्रेजो की लड़ाई जर्मनी, जापान और इटली के उस त्रिगुट्ट से थी, जिसने क्रमशः चैकोस्लोवेकिया, पोलैण्ड, रूस, आदि पर, चीन पर और एबीसीनिया पर आक्रमण किया था। विशेषतः चीन के साथ धर्म सहानुभूति और सहस्रशः लोगो की रूस के साथ सैद्धान्तिक सहानुभूति मित्रराष्ट्रो के युद्धोद्योग में विघ्न डालने से रोकती थी। कांग्रेस महीनों इस धर्म-संकट मे पड़ी रही। पण्डित जवाहरलाल नेहरू इस अन्तर्द्वन्द्व की प्रतिमूर्त्ति थे। वे विश्वव्यापी महाभारत और भारतीय स्वाधीनता-सग्राम के अर्जुन बने हुए थे।

परन्तु ज्यों ही हम कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विचार करने बैठते हैं, त्यों ही नियुक्तवाद और आत्म-स्वातन्त्र्य का झगड़ा हमारे सामने आ खड़ा होता है। यह सवाल पैदा होता है कि हम कर्म करने में स्वतत्र हैं या परतंत्र? नियुक्तवादियों का कहना है कि मनुष्य प्रकृति, स्वभाव और सामाजादि के बन्धनों से इस बुरी तरह से बधा हुआ है कि उसे रत्ती-भर भी स्वतत्रता नहीं। जब एक कवि के शब्दों मे हमारा यह हाल है का यह जानते हुए भी कि अमुक काम करना धर्म है, हम उसे नहीं करते और दूसरी ओर यह जानते हुए कि इस काम को करने से अधर्म होगा, उसे कर डालते हैं और स्वय कुछ न करके हृदय मे बैठा हुआ कोई देवता जैसा कराता है, वैसा ही करते हैं, अर्थात् जब नियुक्तवाद के अनुसार "यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि" का मामला है, तब कर्म अकर्म के पचड़े में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है?

गीता स्वय यह कहती है कि ज्ञानी पुरुष भी अपने स्वभाव के सदृश ही चेष्टा करते हैं, समस्त प्राणी प्रकृति के अनुसार बरतते हैं। इस मामले में निग्रह से कुछ करते-धरते नहीं बनता। भगवान् कृष्ण ने स्वयं अर्जुन से यह कहा था कि 'अगर तू अहकार का आसरा लेकर यह चाहेगा कि मैं

मैं न लड़ूं, तो इस उद्देश से की गई तेरी तमाम कोशिशें बेकार जायंगी, तेरी प्रकृति मुझे अनिच्छन्नपि लड़ाई में जुटा देगी। ऐसी दशा में अर्थात् मनुष्य के इस प्रकार सर्वथा नियुक्त, परवश होने पर कर्म-शास्त्र की कोई आवश्यकता ही नही रहती।

परन्तु गीता स्वयं इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर दे देती है। तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विचार करते हुए गीता ने सदा के लिए इस नियुक्तवादी-शंका का सर्वोत्तम समाधान कर दिया है। गीता का कहना है कि प्रकृत, उसकी महत् (बुद्धि), अहंकार और पांच सूक्ष्म महाभूत, सात विकृत और मन समेत ग्यारह इन्द्रियों तथा पांच स्थूल महाभूत यह सोलह विकृत-विकृतियो के संघात, चेतना और इन सबकी धृति से बना हुआ यह क्षेत्र यानी नश्वर सजीव मनुष्य देह, निस्सन्देह प्रकृत, स्वभाव और समाजादि के अटल तथा अटूट बन्धनों से ऐसा बंधा हुआ है कि हिल नहीं सकता, परन्तु क्षेत्रज्ञ अर्थात् उसका आत्मा इन सब बन्धनों से सर्वथा स्वतंत्र है, इसलिए मनुष्य के सामने नियुक्तिवाद

में चतुराई प्राप्त करते ही तू सुकृत-दुष्कृत पाप-पुण्य के साधारण, प्रचलित माप-दण्डों से परे उठकर इस बात का अचूक फैसला करने में विशेषज्ञ हो जायगा कि क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए। अत: तू फलासक्ति छोड़कर व्यवसायात्मिका बुद्धि का सहारा ले। जब वासनाओं के महासागर में तैरने वाली तेरी यह व्यवसायात्मिक बुद्धि अर्थात् कर्म-अकर्म का निर्णय करने वाली बुद्धि स्थिर हो जायगी, तब वह धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में जो भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी मत-मतातर-वाद और विधि-निषेध हैं, उनसे भी उलझन में नहीं पड़ेगी। इससे यह स्पष्ट है कि गीता के कर्म-शास्त्र में धर्म-अधर्म का निर्णय एक-मात्र व्यवसायात्मिका बुद्धि की स्थिरता और वासनात्मक बुद्धि की शुद्धता

में ट्राट्स्की को यह सलाह देना कि अपने और स्तालिन का झगड़े का फैसला सोविएट रूस की अदालत से करा लो अथवा किसी जर्मन यहूदी को यह सलाह देना कि अपना फैसला नात्सी अदालत में और अमेरिका की दक्षिणी रियासतों में जिस नीग्रो पर गोरी अमेरिकन औरत के साथ बलात्कार करने का आरोप हो, उसको यह सलाह देना कि अपना फैसला घटना-स्थल पर एकत्रित उस अमेरिकन जनता से करा लो, जो अपनी ही पुलिस और अपने ही न्यायालयों के फैसले की प्रतीक्षा न करके ऐसे हब्शियों को जिंदा जला देती है।

यही कारण है कि ज्यों ही कृष्ण ने अर्जुन को यह सलाह दी कि अपनी बुद्धि की शरण लो, त्यों ही यह साफ कर दिया कि इस बुद्धि से मतलब-एकाग्र व्यवसायात्मिका बुद्धि से है और उसे अनस्थिर बुद्धि की बुराइयां तथा स्थिर व्यवसायत्मिका बुद्धि की खूबियां भी समझा दीं। तिस पर भी चौअनवें श्लोक में अर्जुन ने यह पूछा कि यह स्थिर बुद्धि (स्थितप्रज्ञ) कैसी होती है? इसी प्रश्न के उत्तर में गीता के दूसरे अध्याय में पचपनवें श्लोक में लेकर अठहत्तरवें श्लोक तक स्थिर (व्यवसायात्मिका) बुद्धि के लक्षण बताये गए हैं।

बतलाया गया है कि स्थिर बुद्धि वह है जो स्वार्थों अथवा वासनाओं से प्रभावित नहीं होती, उनके असर से स्वतंत्र होती है और अपने आप में संतुष्ट रहती है, जो फैसला करते समय दुःख से खिन्न और स्वार्थ-सुख से लिप्त नहीं होती और राग, भय, क्रोधादि से मुक्त होती है। जो फैसला करते समय किसी भी प्रकार के स्नेह सम्बन्धादि मोह अथवा आसक्ति से प्रभावित नहीं होती व इस डर से ही प्रभावित होती है कि फैसले के फलस्वरूप कहीं मेरे ऊपर कोई मुसीबत तो नही आ जायगी, या मुझसे कोई नाराज तो नहीं हो जायगा और जो न इसी बात से प्रभावित होती है कि अमुक प्रकार का फैसला करने से मुझे इतना लाभ होगा या अमुक मेरा अभिनन्दन करेगा, मुझसे खुश हो जायगा।

सत्तावनवें श्लोक तक यह बताकर कि व्यवसायात्मिका बुद्धि रूपी

गया है, जिन विषयो का मनुष्य ध्यान करता है उनसे सङ्ग पैदा हो जाता है। उनका सङ्ग होते ही उन्हें प्राप्त करने की कामना पैदा होती है। जब उनकी प्राप्ति में विघ्न बाधा पड़ती है, तब क्रोध आता है। क्रोध से संमोह और संमोह से स्मृति-भ्रम होता है। जब याददाश्त ही काम नही देती, तब बुद्धि फैसला किस बूते पर करेगी ? ऐसी भुलक्कड़ बुद्धि के कहने के मुताबिक जो चलेगा, उसका नाश भी निश्चित है।

आगे के श्लोकों में भी यही इन्द्रिय-संयम की आवश्यकता और महिमा प्रतिपादित की गई है। कहा गया है कि बुद्धि-योगी राग-द्वेष से बचकर इन्द्रियों के विषयों से बर्त्ताव करता हुआ भी आत्मवश और विधेयात्मा अर्थात् लोक कल्याणकारी कामों में लगा रहने के कारण प्रसन्नचित्तता प्राप्त करता है। चित्त प्रसन्न रहने पर उसके दुःख अपने-आप दूर हो जाते हैं, क्योंकि दुःखों की तो सबसे अच्छी दवा ही यह है कि उनका ख्याल तक न करे और जिसका चित्त प्रसन्न रहता है, उसका ध्यान दुःखों की तरफ क्यो जायगा ? वह उनकी चिंता क्यों करेगा ? इसलिए जिसका चित्त प्रसन्न रहता है उसकी बुद्धि शीघ्र स्थिर अर्थात् प्रतिष्ठित हो जाती है। यह सबको मालूम है कि बुद्धिमान् लोग जब किसी से अपने हित में कोई फैसला कराना चाहते हैं, तब इस बात का ध्यान रखते हैं कि उससे फैसला ऐसे समय पर कराया जाय, जब उसका चित्त प्रसन्न हो। इन्द्रिया जिस-जिस विषय की ओर जाती हैं उसी-उसी विषय की ओर मन को भी अपने पीछे ले जाती हैं, इसलिए जो इन्द्रियों के पीछे-पीछे फिरने वाले मन को नहीं रोकता, उसकी बुद्धि को विषय-वासना के झोंके वैसे ही जहा चाहे अपने पीछे खींच ले जाते हैं, जैसे पानी में हवा नाव को खींच ले जाती है।

उनहत्तरवें श्लोक में यह कहा गया है कि जिसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि स्थिर हो जाती है, यानी जो संयमी मुनि हो जाता है, उसकी मूल्य आकने की दृष्टि साधारण मूल्य आकने वाली बुद्धि से बिलकुल भिन्न हो जाती है। अर्थात् असंयमी जिन-अनियन्त्रित इन्द्रिय सुख-भोगों में ही

करे, निरहंकार तथा निःस्वार्थ भाव से कि जिससे विश्व के समस्त कार्य सुचारु रूप से चलते रहें।

तीसरे अध्याय के छठे-सातवें श्लोक में कहा गया है कि जो शख्स हाथ-पैरादि कर्मेन्द्रियों को तो रोके रहता है, परन्तु मन को विषय-वासनाओं में ही लगाये रहता है, वह पाखण्डी है। श्रेष्ठ पुरुष वही है जो मन से इंद्रियों पर काबू करता है। यानी भय या असमर्थतावश केवल इन्द्रियों को रोके रहने से कुछ नही होता, आवश्यकता इस बात की है कि इन्द्रियों के राजा मन को इन्द्रिय-सुख-भोगों से भी अधिक सुखों में—लोक-सेवा तथा कर्त्तव्य-पालन के दिव्यानन्दों में जुटा दिया जाय। इस अध्याय में बार-बार अनासक्तियोग पर जोर दिया गया है। उन्नीसवें श्लोक में यहा तक कह दिया गया है कि फलासक्ति छोड़कर ही सदैव कर्त्तव्य-कर्म करना चाहिए। जो अनासक्त होकर काम करता है, उसे परमगति मिल जाती है। तीसवें श्लोक में यह उपदेश दिया गया है कि विश्व और मनुष्य वाले अध्याय में बताये गए अध्यात्मवाद के सिद्धान्तानुसार समबुद्धि भाव से सब कर्मो को यह समझकर करो कि मुझे यानी विश्व के एक अवयव को अपने विराट् स्वरूप के सब काम ममता और स्वार्थ आशादि से बरी होकर करने ही हैं। न तो मैं ही इस सर्व रूप से अलग हूं और न मैं जो काम करता हूं वह अपने किसी स्वार्थ के लिए करता हूं, बल्कि सबकी भलाई मे मेरी भलाई भी सन्निहित है, उसके काम उसी से प्रेरित होकर उसी के लिए करता हूं। इस अध्याय के अंत में यह बताकर कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों में रहने वाले काम-क्रोध ज्ञान को ढककर मनुष्य को मोह में डाल देते हैं, इसलिए पहले इन्द्रियों का संयम करके ज्ञान-विज्ञान, इहलोक-परलोक दोनों को नष्ट करने वाली सहज प्रवृत्तियो को अपने वश में कर, अन्त में यह बताया गया है कि निरेन्द्रिय सृष्टि से सेन्द्रिय सृष्टि श्रेष्ठ है। सेन्द्रिय सृष्टि में मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, परन्तु जिस आत्मा से बुद्धि शुद्ध होती है, वह बुद्दि से भी श्रेष्ठ है, इसलिए कोरे बुद्धिवाद

बुद्धि-पूर्वक फलासक्ति छोड़कर काम करता है उसकी बुद्धि वासनाओं के महासागर में रहते हुए भी उन वासनाओं से ऐसी ही अलिप्त रहती है; जैसे पानी में कमल का पत्ता। ग्यारहवें में आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करने का उपदेश है। अठारहवें मे बुद्धि-शुद्धि के प्रसङ्ग में समदर्शी होने को, विद्वान्, ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल सबकी समान भाव से यथोचित सेवा करने का उपदेश है। इक्कीसवें-बाईसवें श्लोक में क्षण-भंगुर इंद्रिय-सुख भोगानन्द की अपेक्षा सर्वात्म-भाव से लोक-सेवा के अक्षय सुख की श्रेष्ठता का वर्णन है।

चौबीसवे मे लोक-सेवा के दायरे को बढ़ाते जाने से कैसे सर्वात्म भाव हो जाता है, यह बताया गया है। पच्चीसवें श्लोक में ब्रह्म-निर्वाण मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वभूत-हित-रत होना तथा द्वैत-भाव को छोड़कर सर्वात्म-भाव रखना आवश्यक बताया गया है। अन्तिम अर्थात् उन्तीसवें श्लोक में यह बताया गया है कि आत्मा सब प्राणियों का सुहृद है, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को प्राणि-मात्र का सुहृद होना चाहिए। छठे अध्याय के पहले ही श्लोक मे कर्मफल से अनाश्रित होकर कर्म करने का उपदेश है। चौथे में इन्द्रियों से, कर्मों से, तथा कर्मों के फल की आशा से अनासक्त रहने की शिक्षा दी गई है। इस अध्याय में पातञ्जलियोग द्वारा बुद्धि शुद्ध करने की क्रिया का वर्णन है। इसी के अठारहवें श्लोक में सब कामों में निस्पृह रहने का उपदेश है। इक्कीसवें, बाईसवें श्लोक मे यह बताया गया है कि लोक-सेवा का अभ्यास करते-करते इतना आनन्द मिलने लगता है कि फिर उसके सामने सब विषय-सुख तुच्छ जान पड़ते हैं और जब यह स्थिति हो जाती है, तब लोक-संग्रह कार्य में कितने भी कष्ट क्यों न झेलने पड़ें, फिर उस सन्मार्ग से मन विमुख नहीं होता। चौबीसवें से अट्ठाईसवें तक मन को वश में करने के उपायों का वर्णन है और उन्तीसवें से बत्तीसवें तक अपने में सब भूतों को और सब भूतों में अपने को देखने की सर्वत्र समदर्शी बुद्धि प्राप्त करने का और इसी भाव से जगत् रूपी जगदीश्वर की सेवा करने का अति पवित्र उपदेश देकर

अंत में उसका निचोड़ यों कहकर बताया है कि जो सुख या दुःख में आत्मौपम्य सम बुद्धि को, इस भाव को कि जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही सबकी है, मैं और दूसरे भिन्न-भिन्न नहीं हैं नहीं छोड़ता वही बुद्धियोगी है। अंत में यह बताया गया है कि दृढ, चंचल, हठीला, और बलवान मन जिसको वश में करना हवा को बाधने की तरह कठिन है, अभ्यास और वैराग्य से वश में हो सकता है और इस आत्म-संयम तथा सर्वभूतात्म भाव का अभ्यास एक बार प्रारम्भ होने पर कभी व्यर्थ नहीं जाता, चाहे कितना ही समय लगे, अंत में वह पूरा और सिद्ध हो ही जाता है। बुद्धि को शुद्ध करने के सर्वभूतात्मैक्य-भाव ज्ञान अथवा योग समाधि द्वारा अव्यक्तोपासना जगत्रूपी जगदीश्वर की सेवा, व्यक्त अथवा सगुण की भक्ति अथवा उपासना और चित्त शुद्धि तथा लोक-संग्रह के लिए कर्म, इन सबका मेल इस तरह कर दिया गया है कि अखिल विश्व को अपना ही रूप समझकर धीरे-धीरे अहंभाव को उसी में लीन करते हुए, विश्वार्पण पूर्वक निस्वार्थ भाव से उसमें भक्ति रखना, तथा उसकी सेवा करना ही बुद्धि शुद्ध करने का सर्वोत्तम और सबसे सुगम उपाय है। इसी का अभ्यास करते-करते अंत में बुद्धि इतनी शुद्ध हो जाती है कि लोक-कल्याणकारी कार्य करना उसका सहज स्वभाव हो जाता है और कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निर्णय करने में कभी वह इस सर्वात्म एकता के भाव से नहीं डिगती।

चित्त-शुद्धि और आत्म-संयम के सम्बन्ध में यह सदैव ध्यान रहना चाहिए कि आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि की पाशविक प्रेरणाएं ही पाप-प्रवृत्ति प्रवर्द्धक नहीं है, शक्ति, सामाजिकपद और स्वामित्व की मानवी प्रेरणाये उनसे भी अधिक प्रबल और पाप-परिपूरित हैं। एक वाक्य में गीता का उपदेश यह है कि चञ्चल मन को स्थिर तथा शुद्ध बुद्धि और चित्त को वश में रखकर अहंकार को, स्वार्थ तथा पार्थक्य के भाव को, सर्वात्म भाव में लीन कर दे। सबकी एकता की भाव रूपी ज्ञान-निष्ठा से, आत्म-निष्ठ बुद्धि से, जगत् तथा समाज की सुव्यवस्थिति के लिए कर्त्तव्य निर्णय

करके निष्काम कर्म करे। मन ऐसी शुद्ध बुद्धि द्वारा सञ्चालित हो और इन्द्रियां ऐसे मन की आज्ञानुसार बर्तें। मनुष्य-शरीर तथा समाज-शरीर में अंग-प्रत्यंग का इसी प्रकार पारस्परिक सहयोग हो और इस बात का सदैव ध्यान रहे कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न जगत् के सभी बनाव द्वन्द्व, जोड़े रूप, सभी सापेक्ष, सभी एक वस्तु के दो रूप और सभी समान परिमाण में हैं। इस द्वैत भाव से परे उठकर सबकी एकता के अनुभव से ही गीता के जीवन-मुक्त अथवा स्थित-प्रज्ञ ब्रह्मज्ञानी की अवस्था प्राप्त होती है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गीता ने साम्य-बुद्धि रूप परमार्थ को ही नीति का मूलाधार माना है। वह कार्य के बाह्य परिणामों पर या धर्म, अधर्म के प्रचलित माप-दण्डो पर निर्भर नहीं, केवल सर्वात्म भाव रूपी शुद्ध बुद्धि पर निर्भर है। इसलिए वह सर्वोत्तम, सनातन, सार्वभौमिक और सार्वजनीन है। कर्त्तव्य-निर्णय की इससे बढकर क्रांतिकारी और प्रगतिशील कसौटी और कहीं नहीं है। वह मूल्यों और महत्त्वों का निर्णय भौतिकवाद से नहीं, अध्यात्मवाद से करती है। उसके अनुसार परमात्म-भाव की ओर को प्रगति बढ़ाने वाले, सर्वात्मभाव के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए, निस्वार्थ भाव से किये जाने वाले सब कर्म पुण्य हैं, उसके प्रतिकूल सब काम पाप। मित्रता और भेद-भावों को बढ़ाने वाले कार्य अधर्म हैं और सबको पूर्ण एकता और प्रगति को पुष्ट करने वाले कार्य धर्म।

सर्वात्म रूपी ज्ञान, सर्वोपासना रूपी भक्ति, सर्व सेवा रूपी निष्काम कर्म ही आत्मयोग, अनन्य भक्ति और यथार्थ परमात्मा प्रवर्तित प्रगति पोषणार्थ कर्म करते रहने से प्राप्त स्थिर निर्णयात्मक और शुद्ध वासनात्मक बुद्धि से ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य करने का सिद्धात गीता में प्रतिपादित है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने दसवें अध्याय में "अध्यात्म विद्या विधाना" कह कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय की सर्वोत्तम कसौटी आत्म-ज्ञान से स्थिर निर्णयात्मिका बुद्धि को ही बताया है। विश्व और मनुष्य सबके लिए,

सदा के लिए, गीता का एक सञ्जीवन संदेश है:—

निष्काम कर्म योग।

महात्मा गांधी के शब्दों में गीता का कर्म-शास्त्र विधि-निषेध-शास्त्र नहीं है। विहित है, केवल अनासक्ति और निषिद्ध फलासक्ति।

: ६ :

खोटी कसौटियां

गीता के सर्वात्मभाव-युक्त शुद्ध बुद्धि स्थिर व्यावसायात्मिका और शुद्ध वासनात्मक बुद्धि से ही समस्त कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का निर्णय करने के कर्म-शास्त्र के विरुद्ध जो आक्षेप किये जाते हैं, उनको मुख्यत: दो भागों में बाट सकने हैं, एक धर्मवादी और दूसरे भौतिकवादी।

धर्मवादियों का कहना है कि इस प्रकार कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता शुद्ध बुद्धि को देना धार्मिक अराजकता को प्रोत्साहन देना है। धार्मिक पुस्तकों में मनुष्यों के लिए जो धर्म, कर्म, पूजा-पाठ, विधि-निषेध निश्चित कर दिये गए हैं, उन्हीं पर चलकर मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकते हैं इन धर्माशास्त्रों के विरुद्ध कोई काम करना पाप है, जिसके परिणामस्वरूप इस लोक में दण्ड नहीं भी मिले, तो मरने पर नरक अवश्य ही मिलेगा।

इन धर्म-वादियों के धर्म अलग-अलग होते हैं। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, ईसाई, हिब्रू, कन्फ्यूशियस-धर्म, शिण्टो-धर्म पारसी-धर्म इसके मुख्य भेद हैं और इनके अलावा भी बीसियों हैं। इसके अतिरिक्त इनमें से एक-एक की शत-शत शाखा-प्रशाखाएं हैं, जिनमें से हर एक यह दावा करता है कि हमारा मजहब जो कहता है वही सही है, दूसरों का ग़लत। फलस्वरूप उनमें परस्पर खण्डन-मण्डन और धार्मिक तथा साम्प्रदायिक झगड़े चला करते हैं। मानव-समाज के इतिहास में धर्मों के इन झगड़ों को लेकर सैकड़ों युद्ध हुए हैं और धर्म के नाम पर रोमांचकारी पैशाचिक

अत्याचार किये गए हैं। ऐसी दशा में यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि इनमें से किसकी बात मानें।

इन सब धर्मों के मुख्यतः दो अङ्ग होते हैं। एक कर्म-काण्ड का और दूसरा सिद्धात-कथन का। अधिकतर झगड़ा कर्म-काण्ड के कारण होता है। सबके पूजा-पाठ के विधि-विधान अलग-अलग होते हैं और हर एक यह दावा करता है कि धर्म का मार्ग तो यही है, और विधि-विधान है तो यही है। समय विशेष में उद्देश विशेष से प्रचलित और प्रवर्तित किये गए ये कर्म-काण्ड कालान्तर में सर्वथा निर्जीव और निरर्थक तथा निरुपयोगी हो जाते हैं। फिर भी धार्मिक जड़ता के नाम पर उन्हीं जीर्ण-शीर्ण परिपाटियों की लकीर पीटी जाती है। इसी के फलस्वरूप रूढियों और दम्भ-पाखण्डों का जन्म होता है। सब धर्मों के बहुत से पुजारी उनके ठेकेदार बनकर उनकी दुकानें खोलकर अपने धर्म का व्यवसाय करने लगते हैं। तुलसीदासजी के शब्दों में ये लोग धर्म को दुहकर अपनी दुकानों पर वेद बेचने लगते है। बाकायदा स्वर्ग के सर्टीफिकेट बेचे जाते है। जो कोई इन रूढ़ियों, पाखण्डों और मूढ विश्वासों तथा स्पष्ट धूर्तताओ के प्रति ध्यान आकर्षित करता है, उसी पर धर्म के ये पुलिसमैन टूट पड़ते हैं। धर्म के इसी विकृत स्वरूप के कारण धर्म के बहुत से ठेकेदारों की धूर्तताओ के तथा भिन्न-भिन्न धर्मों की साम्प्रदायिक सकीर्णता के कारण ही समस्त ससार में इस धर्म-भाव के प्रति अश्रद्धा फैल रही है और उनके विरुद्ध सङ्गठित विद्रोह हो रहा है। धर्म के नाम पर धर्म के ये ठेकेदार, धर्म और धर्म-भाव को भारी हानि पहुंचा रहे हैं। फिर ऐसे लोगों की आलोचना का मूल्य ही क्या? उनके और उनके कार्यों के सम्बन्ध में मानव-समाज का समस्त अनुभव उनके दावों को स्वय काट रहा है। इनके परिहास से तो गीता के कर्म-शास्त्र के सिद्धात का हित ही होता है। इनकी सकीर्णता और एकदेशीयता की तुलना मे गीता का सार्वजनीन, सर्वकालीन और सार्वभौमिक तथा क्रांति-

कारी और प्रगतिशील कर्म-शास्त्र और भी चमकने लगता है।

हां, इनका शुक्ल पक्ष भी है। वह है, इनका सिद्धान्त-पक्ष। उसके कुछ उदाहरण हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् का सत्यं-वद धर्मं-चर। मनु महाराज के बताये हुए धर्म के दस लक्षण, बाइबिल की दस धर्माज्ञाएं। भगवान् बुद्ध का बताया हुआ अष्टमार्ग।

ये मूल्यवान हैं। इनमें धर्म-भाव है। ये सदाचार के सनातन स्रोत हैं। परन्तु ये तो सब धर्मों में एक से हैं, इसलिए धर्मवादी इनकी शरण नहीं ले सकते। ये तो मानव-धर्म के शिलान्यास हैं। गीता के कर्म-शास्त्र से इनकी मान्यता में तनिक भी कमी नहीं आती। गीता का अध्यात्मवाद कर्म-शास्त्र केवल यह बताता है कि जब किसी प्रसंग पर ऐसा धर्म संकट आ जाय कि इन सनातन धर्मों मे से एक का पालन करने में दूसरे का व्यतिक्रम होता हो, तब क्या करना चाहिए? पहले अध्याय में अर्जुन ने जितनी शंकाएं की हैं, वे सब इसी दृष्टि से, धर्म दृष्टि से ही की हैं। उसका प्रश्न यह नही था कि मैं श्रेय अर्थात् सनातन सत्यों के नाम पर प्रेय को अर्थात् सांसारिक स्वार्थ-सिद्धि और सुख-सम्पत्ति सम्बन्धी उपभोगों को कैसे छोड़ूं? यह तो भौतिकवादी दृष्टिकोण है। अर्जुन का दृष्टिकोण तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण था। उसने तो स्पष्ट यह कहा कि क्योंकि मैं इस युद्ध को, स्वजनो और पूज्य गुरुओं तथा आचार्यों की हत्या को अधर्म समझता हूं, इसलिए राज्य, सुख और विजय के लिए भी मैं वह अधर्म नहीं करना चाहता। अर्जुन ने बार-बार गीता में यही पूछा है कि ऐसा मार्ग बताओ जिससे श्रेय की सिद्धि हो। "यच्छ्रेयःस्यात् निश्चितं ब्रूहि तन्मे" अर्जुन का प्रश्न सनातन सत्यों के प्रयोग का प्रश्न है। और भिन्न-भिन्न धर्म के ठेकेदार धर्म के धनियों के पास, धर्म संकट सम्बन्धी ऐसी दुविधाओं का हल करने के लिए गीता के क्रांतिकारी और प्रगतिशील कर्म-शास्त्र के अतिरिक्त, सर्वात्म भाव से शुद्ध बुद्धि द्वारा सनातन सत्यों के प्रयोग के प्रश्न का निर्णय करने के अतिरिक्त और कौन-सा उपाय है, जो गीता के इस कर्म-शास्त्र के

सिद्धांत की बराबरी का तो दूर उसके आस-पास भी आने की योग्यता तथा सामर्थ्य रखता हो।

इन सनातन सत्यों का जीवन के विशेष प्रसंगों पर प्रयोग करते समय कैसे-कैसे संकट आते हैं, तथा इन संकट का हल करने के लिए स्वयं धर्म-ग्रंथों, श्रुति-स्मृतियों आदि को भी कैसे-कैसे परस्पर विरोधी निर्णय देने पड़ते हैं, इसकी कुछ चर्चा गीता-गौरव में की जा चुकी है। अतः यहां विषय का विस्तृत विवेचन करके पुस्तक का कलेवर बढ़ाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। गीता इतनी प्रगतिशील और क्रांति-कारणी है कि इनमें इन धर्म-वादियों नान्यदस्तीतिवादियों के विरुद्ध, वेद-वादरतों के विरुद्ध शुरू में ही चेतावनी दे दी गई है। और जो चेतावनी वेदों के विरुद्ध है, वही संसार के समस्त धर्म-ग्रन्थों के विरुद्ध है। गीता का कहना है कि उनके धर्म को बिना समझे-बूझे अंधे होकर उनके पीछे चलना बुद्धिमानी का काम नहीं उनके सत्यों की खोज करना चाहते हो, उनके मर्म को जानकर जीवन और समाज में उनका सही प्रयोग करना चाहते हो तो सर्वात्मभाव रूपी आत्म-ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करके स्थिर कर लो, फिर इस सूक्ष्मदर्शी दूरबीन, और कुतुबनुमा से सहज ही गहरे-से-गहरे और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म समस्याओं के सही स्वरूप को जान सकोगे। ऐसे अमोघ कर्म-शास्त्र के विरुद्ध धर्मवादियों की संकीर्ण शंकायें कहां ठहर सकती हैं।

धर्मवादी एक बात और कह सकते हैं। वह यह कि इन सनातन सत्यों का सही अर्थ हमारी चालू दुकानों पर कुंजियों के रूप में, या धर्म की पुड़ियाओं में भी प्रचलित धर्म के रूप में मिल सकता है। परन्तु इन धर्म-व्यवसायियों से कोई पूछे कि इन दुकानों पर जो सड़ा सौदा बिकता है, उसकी तरफ भी आपका ध्यान गया है? यह तय करने के लिए ही सही, हमें इस बात की आवश्यकता तो पड़ेगी ही कि हम अपनी बुद्धि को सर्वात्मैक्य भाव से इतनी शुद्ध और स्थिर कर लें कि वह इन दुकानों के माल को सही-सही रख सके। वह तरह-तरह के

को देखकर भ्रम और मोह में न पड़ जाय, चकरा तथा बौखला न जाय। इस दृष्टि से भी गीता के कर्म-सिद्धान्त की आवश्यकता और उपादेयता सिद्ध होती है। जिन प्रचलित धर्मों के पीछे हमें अन्धे होकर चलने को कहा जाता है, उनके थोड़े-से विचित्र और बीभत्स नमूने ले लीजिए। युवक स्पार्टन प्राचीन काल में चोरी करना धर्म समझते थे। भारतीय ठग भी धर्म के नाम पर भोले-भाले स्त्री-पुरुषों को छल-बल से मारकर उनका सब कुछ लूट लेते थे और उन्हें देवी की भेंट चढ़ा देते थे। यूरोप में बूढी औरतों को जादूगरनी बता कर उनकी हत्या प्रचलित थी। यूनान में एक समय बाल-हत्या धर्म समझी जाती थी। हिन्दुस्तान के कुछ राजपूत भी कुल-धर्म की भावना से विमूढ़ होकर नवजात कन्या को मार डालते थे। एजेंटक नाम की जाति के पुजारियों का विश्वास है कि अगर वे मनुष्यों का मांस न खायेंगे, तो सूर्य का प्रकाश फीका पड़ जायगा। कुछ लोगों का विश्वास था कि वेश्या ही ईश्वर भक्त हो सकती है। एक जाति ऐसी है, जिसमें सतीत्व शब्द का नाम ही नहीं। हमारे देश में तो भिन्न-भिन्न जातियों के अब भी ऐसे प्रचलित धर्मों के सैंकड़ों उदाहरण मिलेंगे। नायकों में तथा वेदियों में अपनी लड़कियों और स्त्रियों से वेश्या-वृत्ति कराने का (धर्म ?) प्रचलित है। भाँटू वगैरा कई कौमों में चोरी-डकैती वगैरा ही 'धर्म' मानी जाती है। निगोरिया में क्वारी कन्या के सन्तानोत्पत्ति जिस व्यक्ति से उसकी सगाई हो गई हो, उसके अतिरिक्त किसी से भी हो जाय, तो उसका मूल्य और महत्त्व बढ़ जाता है। वहां स्त्रियं अपने पति से आग्रह करती हैं कि अपनी शादी करो और नई स्त्री लाओ। इससे सिद्ध है कि धर्म-वादियों की सदसत् सम्बन्धी धारणाएं अति विभिन्न, परस्पर विरोधिनी होती हैं। ऐसी हालत में धर्म-वादी ही बतावें कि इनमें से किस धर्म के पीछे, अपनी बुद्धि को ताक पर रखकर और आखों पर पट्टी बाधकर चला जाय ?

इसके अतिरिक्त प्रचलित धर्म और समाजिक सदाचार सदैव एक-सा

नहीं रहता। वह देश कालावस्थानुसार बदलता रहता है। उदाहरणार्थ, महाभारत-काल में एक स्त्री के कई पति हो सकते थे और नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ-प्रकाश में एक खास दशा में नियोग की प्रथा को वेद-विहित बताया है। अब कितने ऐसे सनातन-धर्मी और आर्य-समाजी हैं, जो नियोग के इस प्राचीन काल में प्रचलित और वेद-शास्त्र-सम्मत धर्म पर चलने को तैयार हैं? महाभारत-काल में स्वयं महाभारत के रचयिता वेद-व्यासजी का जन्म महर्षि पाराशर और मल्लाह की कुंवारी लड़की मत्स्यगंधा के संयोग से हुआ और कुमारी कुन्ती के कर्ण उत्पन्न हुआ। तो क्या आज के धर्मवादी उस समय के प्रचलित इन धर्मों को मानने को तैयार हैं?

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने प्रचुर प्रमाण से परिपूर्ण पुस्तकें लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक धर्म परिवर्त्तनशील है। मानव (जाति)-विज्ञान ऐसे प्रमाणों से भरा पड़ा है। इन विद्वानों में हौब-हाऊस, एडवर्ड वैसरमार्क, डरकीम आदि प्रमुख हैं। प्रो० म्यूर हैड का कहना है कि सामाजिक सदाचार का सामाजक प्रथम पिण्ड (tissue) सदैव समाज की अवस्थानुसार बदलता रहता है।

प्रचलित धर्म की बात को मान लेने का परिणाम यह हो जाता है कि हमारा धर्म भूगोल पर या उस देश, जाति, समाज आदि पर निर्भर हो जाता है, जहां हमें रहना पड़े या जिसमें संयोगवश हमारा जन्म हो जाय। उदाहरणार्थ इंगलैंड में हम एक समय एक ही स्त्री से विवाह कर सकते हैं, परन्तु अरब में एक साथ चार से। और इन चार में से भी चाहे जिसको तलाक देकर दूसरी शादियां कर सकते हैं, जिनकी कोई भी संख्या निश्चित नहीं। सऊदी अरब का सफल उद्धारक और शासक इब्नसऊद इस प्रकार सैकड़ों शादी कर चुका है और फिर भी अत्यन्त धर्म-भीरु माना जाता है। इंगलैंड में पत्नी स्वच्छन्द व्यभिचार कर सकती है, पति के आपत्ति करने पर उसे तलाक देकर अपने प्रेमी के स जा सकती है। फ्रांस में पति की अनुमति से स्वतन्त्रतापूर्वक अपने

प्रेमी को अपने घर पति की उपस्थिति में ही बुला सकती है। रूस के स्कूलों में क्वारी लड़कियां खुल्लम-खुल्ला काम-केलि करती हैं। गर्भ होने पर बच्चा जनती हैं। किसी को इस पर कुछ आपत्ति नहीं होती, बल्कि इस प्रकार पैदा हुए बच्चो के जन्मोत्सव धूम-धाम से मनाये जाते हैं। क्वारी या विवाहित स्त्रियां चाहे जिस पुरुष के साथ चाहे जितना विषय-भोग कर सकती हैं। इस विषय में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता रही है। कप्तान रैशडौन ने यह ठीक ही कहा है कि ऐसा कौन-सा पाप अथवा जुर्म है, जो किसी-न-किसी समय नैतिक अथवा धार्मिक कर्त्तव्य न माना गया हो। साराश यह कि गीता के कर्म-सिद्धात के सम्बन्ध में धर्म-वादियों की सब कसौटियां स्वयं खोटी साबित होती हैं। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीतोपदेश समाप्त करने के बाद अन्त मे विकट विश्वास के साथ यह कहा :—

"सब धर्मों (धर्म-वादों) के चक्कर को छोड़कर तुम केवल सर्वात्मैक्य-ज्ञान से शुद्ध-बुद्धि की शरण लो। वह तुझे सब पापों से छुड़ा लेगी। किसी बात का शोक न कर।"

तुलसीदासजी ने भी इन अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में आचार-वाद की आलोचना की है:—'जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।' 'तज्यौ पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी। बलि गुरुतज्यौ, कन्त ब्रज वनिता, भये सब मङ्गलकारी।' अर्थात् तुलसीदासजी के मतानुसार धर्माधर्म के निर्णय की एकमात्र कसौटी अध्यात्मिक, त्रिगुणातीत है। गीता का स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी सदैव सत्य, अहिंसा, क्षमा, शौचादि सनातन धर्मों तथा धार्मिक-साम्प्रदायिक कृत्यों पर आरूढ़ रहता हुआ भी इनमें परस्पर विरोध होने पर लोक-संग्रह के लिए किसी एक को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य तथा आवश्यक समझता है, तब ऊपर से क्रोध, हिंसादि के रूप मे दीखने वाले दण्ड, न्याय, शासन तथा ध्वंसादि कार्य से भी विमुख नहीं होता, उन्हें अपने को जगदात्मा का निमित्त-मात्र समझकर निष्काम भाव से करता है और

तथाकथित सत्य, अहिंसा, क्षमा, सदाचार को उस अवसर के लिए विकर्म तथा निषिद्ध समझता है।

अब भौतिकवादियों को लीजिए। पश्चिम में सदियों तक इन्हीं का बोल-बाला रहा। आज-कल भी सर्वत्र इनका काफी जोर है। प्राचीन काल में हमारे यहां चार्वाक और जाबालि आदि इसी मत के थे। उनका कहना है कि इस संसार में जब तक हम जीते हैं, तभी तक सब कुछ है। मरने के बाद कुछ नहीं रहेगा। इसीलिए धर्म-कर्म के झगड़ों और आत्मा-परमात्मा के झंझटों को छोड़ो। जब तक जिओ, तब तक जैसे हो, खाओ, पियो, मौज करो। चार्वाक ने 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' की सलाह दी थी। 'उन्नति' के इस युग में झूठ, चोरी, हत्या, डकैती, व्यभिचार, बेईमानी, छल-कपट, दगाबाजी से, जैसे हो वैसे, धन कमाने, तरक्की करने और मजे उड़ाने की सलाह है। सलाह है, भाड़ में फेंको धर्म और आत्मा को, जैसे हो वैसे, सम्पत्ति संग्रह करके शक्तिशाली बनो और सानन्द, स्वच्छन्द सुरा-सुन्दरी का रसपान करो। परन्तु स्वार्थ-सुखवादियों की यह श्रेणी इस भौतिकवादी युग में भी अत्यन्त गर्ह्य समझी जाती है, अतः वह तरह-तरह की चोली बदलकर मनुष्य समाज के सामने आती है।

पहली चोली वह थी, जो इंगलैण्ड में हौब्स ने लैवियैथन नामक पुस्तक में और फ्रांस में हेल्वेशियस ने पहनाई। इनका कहना था कि है तो मनुष्य ऐन्द्रिक सुखोपभोगों के स्वार्थ के साचे में ढाला हुआ एक पुतला ही, परन्तु अपने सुख के साथ-साथ उसी सुख का बीमा कराने के लिए दूसरों के सुख का भी कुछ ध्यान रखना चाहिए। बटलर, ह्यूम आदि ने इस मत का खण्डन करके कहा कि मनुष्य केवल स्वार्थी नहीं है। उसमें परार्थ का भाव भी उसी प्रकार जम जाता है, जिस तरह स्वार्थभाव। इनका कहना है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार करते समय स्वार्थ और परमार्थ दोनों पर ध्यान रखना चाहिए; परन्तु इनका दावा है कि साधारण तौर पर स्वार्थ और परार्थ में विशेष विरोध नहीं उत्पन्न होता,' क्योंकि

बहुधा जिन कामों से हम अपना स्वार्थ-सिद्ध करते हैं उनसे दूसरों का स्वार्थ भी सब जाता है और इसी तरह परोपकार करते हुए भी हमारा अपना उपकार होता रहता है । ये परार्थ और स्वार्थ को बराबरी का मानते हैं । दोनों में से किसी एक की श्रेष्ठता स्वीकार नही करते । "कर्म शास्त्र की प्रणालियां" नामक पुस्तक के लेखक सिज्विक भी इसी मत के समर्थक हैं ।

परन्तु भौतिकवादी भी इस मत से सन्तुष्ट नहीं रह सके। अतः उन के सर्वश्रेष्ठ पंथ उपयोगितावादियों के पंथ का उदय हुआ। इस मत के लोगो में मिल और बैल्थमादि का नाम प्रधान है । उनका कहना है कि हमें केवल व्यक्ति के सुख या हित को ही नहीं देखना चाहिए, बल्कि सब मनुष्य-जाति के भौतिक सुख पर ध्यान रखकर ही कार्य-अकार्य का निर्णय करना चाहिए। परन्तु चूंकि सब लोगों को सुख देने वाला काम कल्पनातीत मालूम होता है, इसलिए व्यवहार में "अधिकांश लोगों के अधिक सुख या हित" जिस काम से सिद्ध हों, वही करना चाहिए।

इस मत में चार बड़े दोष प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं—(१) यह कौन तय करे और कैसे तय करे कि "अधिकाश लोगों का अधिक सुख" किसमें है ? (२) सुख और हित को एक कैसे मान लिया जाय ? (३) कर्त्ता के उद्देश्य पर कुछ ध्यान क्यों न रक्खा जाय ? (४) सुख की परिभाषा कैसे की जाय ? इन चारों दोषों के उदाहरण लीजिए। यदि अधिकाश लोगों के अधिक सुख का निर्णय अधिकाश लोगों पर ही छोड़ दिया जाय, तो सब उन्नति रुक जाय। अधिकाश लोगों ने तो अपने-अपने समय में ईसा मसीह को फॉसी दी थी। सुकरात को जहर का प्याला पिलाया था। अधिकांश अङ्गरेज अपना सुख इसी में समझते हैं कि उनका साम्राज्य बना रहे और हिन्दुस्तान उन्हीं के आधीन रहे । सर्व-साधारण-वाद के एक बहुत बड़े समर्थक ने लैनिन से सर्व-साधारण के निर्णय के संबन्ध में स्वयं यह कहा था कि "सर्व साधारण ? सर्व साधारण तो हजारों बरस की जड़ता, मूढ़ता और दासता के प्रतिनिधि हैं। क्या हम उनके आदेश पर

चलेंगे ?"

'क्या करें' नामक पुस्तक में उन्होंने यह लिखा है कि सर्वहारा स्वतः समाजवाद स्थापित करना तो दूर समाजवाद का विचार तक नहीं कर सकते। यह काम तो थोड़े से शुद्ध बुद्धि-सम्पन्न पुरुष ही कर सकते हैं। अति लोकतंत्रवादी रूसो को भी यह कहना पड़ा। अधिकांश लोग तो जड़ता और आलस्य के कारण दासता के अभ्यस्त हो जाते हैं। हमें चाहिए कि हम उन्हें स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य करें। और यदि अधिकांश लोगों के अधिक सुख का निर्णय कर्त्ता के ऊपर छोड़ दें, तो हम देखते हैं कि स्टालिन क्रांतिकालीन अखिल रूसी कार्य-कर्त्री कमेटी के लगभग सभी सदस्यों को प्राण-दण्ड देने में ही अधिकांश लोगों का अधिक सुख समझता है। उससे पहले लैनिन ने सत्ता हाथ में आते ही उस समय रूस के अधिकांश लोगों की विधिवत अधिकारी प्रतिनिधि विधान-निर्मात्री पचायत को भंग करने में ही अधिकांश लोगों का अधिक हित समझा था। हिटलर नात्सी-नीति में और स्टालिन मार्क्स-वादी मजहब में ही अधिकांश लोगों का अधिक सुख बताता है।

रूस के सम्बन्ध में मिस्टर टी. विलियम्स ने लिखा है कि मध्य वोल्गा में यह राय ली गई कि शादियां गैर रजिस्ट्री शुदा हों, तब भी उनको जायज माना जाय, तो पिच्चानवें फीसदी ने इसके विरुद्ध राय दी। इससे भी अधिक मनोरंजक उदाहरण यह है कि मास्को प्रान्त में एक किसान ने अपनी बीवी को इसलिए गोली मार दी क्योंकि वह सोवियट संस्था का काम छोड़कर घर नहीं आती थी। जब जनता के सामने उसे दण्डार्थ पेश किया गया तो किसान पुरुषों ने ही नहीं, स्त्रियों तक ने उसी का समर्थन किया। १९३४ तक रूस के गावों में बीवियों की पिटाई साधारण घटना समझी जाती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि अधिकांश लोगों के अधिक सुखका निर्णय न तो अधिकांश लोगों पर ही छोड़ा जा सकता है और न कर्त्ता पर ही। अधिकांश लोगों को उनका सुख किस बात में है, इस बात का निर्णय कराने में एक व्यावहारिक कठिनाई यह

भी है कि जब तत्काल ही ऐसा करना अनिवार्य हो, तब उनकी राय ली ही नहीं जा सकती और साधारणतः हर व्यक्ति के पास ऐसे साधन कहां हैं, जिनसे वह अपने सामने आए कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी प्रत्येक प्रश्न पर जनता की राय ले सके। और अधिकांश लोगों के सुख का निर्णय कर्ता पर छोड़ना स्पष्टतः भयावह है, क्योंकि उसका निर्णय वह अपनी बुद्धि से ही करेगा और जब तक उसकी बुद्धि पूर्णतया शुद्ध न हो तब तक इस बात का सदा भय बना रहेगा कि कहीं उसका निर्णय जनता के लिए घातक न सिद्ध हो और दोनों हालतों में, अभी तक विज्ञान उष्णता-मापक यन्त्र की तरह ऐसे किसी यन्त्र का आविष्कार नहीं कर सका है, जिससे सुख की नाप-तोल की जा सके। इन बातों के अतिरिक्त नित्शे प्रभृति कुछ लोगों की सम्मति है कि संसार की भलाई अधिकाश मूर्खों की उन्नति करने की व्यर्थ चेष्टा में नहीं, परन्तु सर्वश्रेष्ठ पुरुष (Super-men) उत्पन्न करने में है।

सुख और हित भी एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं। बहुधा बहुत-सी बातें जो हमारी इन्द्रियों को ही सुखकर प्रतीत होती हैं, उन्हीं इन्द्रियों को, हमारे स्वास्थ्य को हानि पहुँचाती हैं। अर्थात् जिस बात से हमें सुख मिलता है उससे हमारा हित सिद्ध नहीं होता।

अब तक की आलोचना से इस बात का भी संकेत मिल चुका है कि अधिकांश लोगों के अधिक सुख वाले सिद्धान्त में और वस्तुतः केवल कर्म के बाह्य परिणामों से ही उसकी अच्छाई-बुराई का निश्चय करने वाले सभी सिद्धान्तों में कर्ता की, करने वाले की, बुद्धि और वासना और उसके मन के असली उद्देश्य पर ध्यान नहीं दिया जाता। इसका परिणाम यह होता है कि यदि बेईमानी से लाखों गरीबों का खून चूसकर लाखों की बेईमानी की कमाई में से धनी होने वाला व्यक्ति किसी काम के लिए एक हजार रुपया दे देता है और वह भी अपने किसी बड़े व्यापारिक लाभ के लिए, तो उसकी सेवा या उपयोगिता अपनी सर्वस्व सम्पत्ति एक रुपया दान देने वाली गरीबनी की सेवा से उच्चतर मानी जाती है।

बाह्य-परिणाम वाली कसौटी की इस कमी को स्वयं अनेक भौतिक-वादियों ने भी स्वीकार किया है। ह्यूम ने लिखा है कि "जब मनुष्य का काम ही उसके चरित्र का द्योतक होता है और जब वही सदाचार-सूचक भी माना जाता है, तब केवल बाह्य परिणामों से ही काम को निन्दनीय अथवा अभिनन्दनीय मान लेना उचित नहीं है।" प्रसिद्ध उपयोगितावादी मिल ने भी इस बात को माना है कि 'कर्म की अच्छाई-बुराई कर्त्ता के उद्देश्य पर यानी जिस बुद्धि या भावना से वह काम करता है, उस पर पूर्णतया निर्भर है।"

अब यह देखिये कि सुख किसे कहते हैं?'भौतिकवादी अभी तक सुख की परिभाषा नहीं कर सके। वे इन्द्रिय—सुख भोगों को—वासनाओं की तृप्ति को ही सुख समझते हैं, परन्तु हमारे शास्त्रों में सुख-दुःख का अच्छा विवेचन किया गया है। उनके कथनानुसार सब सुख-दुःखों का अभाव यानी उनका निवारण अथवा तृष्णा क्षयमूलक ही नहीं है। सभी जानते हैं कि छोटे बच्चे के मुंह में पहले-पहल मिश्री की डली डाले जाने पर उसे सुख का अनुभव होता है। परन्तु इस सुख को तृष्णा क्षय-मूलक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे पहले उसे मिश्री खाने के सुख का ज्ञान ही नहीं था और इसलिए उसे खाने की तृष्णा तो दूर किसी प्रकार की इच्छा भी न थी। इसी तरह घर बैठे-बैठे अचानक कोयल की 'कूक' अथवा पपहे की 'पी-पी' की मधुर ध्वनि सुनकर जो आनन्द होता है, वह भी इसलिए नहीं होता कि उसे सुनने से पहले हम उसे न सुनने का दुःख अनुभव कर रहे थे। कुछ स्वरों का मिलान हमारे कानों को क्यों प्रिय मालूम होता है? आकृति की कुछ रेखाएं आखों को क्यों सुखकर मालूम होती हैं? जीभ को मिठास क्यों रुचिकर मालूम होता है? इसका कारण इसके सिवा और कुछ नहीं बताया जा सकता कि शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि में जो राग-द्वेष हैं, वे स्वाभाविक हैं। और यही बात गीता के तीसरे श्लोक के चौथे अध्याय में कही गई है।

परन्तु यह इन्द्रिय सुख-भोग बहुत ही क्षण-भंगुर, पराधीन और

निकृष्ट श्रेणी का सुख है। उसकी प्राप्ति के लिए हमें दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है—हम परवश हो जाते हैं। और वह अधिक देर तक ठहरता भी नहीं, कुछ पलों में ही पलायन कर जाता है। साथ ही इनकी प्राप्ति के उद्योग में दुःख भी होता है। कभी-कभी तो दुःख से ही सुख की उत्पत्ति होती है। जैसे वियोग-वेदना के बाद मिलन का आनन्द, अथवा बर्नार्ड शॉ के शब्दों में खतरों में पड़ने का सुख क्योंकि उससे बचने के बाद वास्तविक सुख का अनुभव होता है।

इन्द्रियों की सुख-भोग की शक्ति भी परिमित है। न केवल वे बहुत शीघ्र ऊब जाती हैं, अपितु उनकी सुख अनुभव करने की सामर्थ्य भी कम होती जाती है। उदाहरणार्थ लगातार सुगंध सूंघते रहिए, तो सूंघने की शक्ति कम हो जाती है। लगातार अच्छे भोजन करने से स्वादिष्ट भोजन का सेवन करने की शक्ति नहीं रहती और लगातार गुदगुदे गद्दों पर सोते रहने से गहरी नींद में सोने की वह शक्ति, जो मोटा खाने और जमीन-पर सोने वालों में पाई जाती है, तिरोहित हो जाती है।

सुख के विषय में एक बात और भी है, वह यह कि हम यह आशा नहीं कर सकते कि हमें सदैव सुख ही सुख मिलता रहेगा। अधिकतर सुख-दुःख दिन-रात आदि दूसरे द्वन्द्वों की तरह जोड़े में एक-दूसरे के साथ रहते हैं, और एक के बाद दूसरा आता ही है। एक अर्थ में सुखोपभोग स्वयं दुःख उत्पन्न कर देता है। यानी उस समय जब सुखोपभोग से उपभोग की इच्छा तृप्त होने के अतिरिक्त और भी बढ़ जाती है और तब एक इच्छा के पूरी होने पर दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। महाभारत में राजा ययाति के बारे में यह लिखा है कि पूरे एक हजार वर्ष तक सब प्रकार के सुख भोगने के बाद उन्होंने अपने अनुभव का फल यह बताया कि सुखोपभोग से विषय-वासना तृप्त होने के बदले उसी तरह बढ़ती जाती है जैसे हवन की सामग्री डालने पर अग्नि की ज्वाला और भी अधिक भड़क उठती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है:—'बुझै न काम अगनि तुलसी कहुँ

विषय भोग बहु घी ते।" प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने यह मत प्रकट किया है कि जिस परिमाण में सुखपभोग बढ़ता है, सदैव उससे अधिक परिमाण में सुखेच्छा बढ़ती जाती है। फलस्वरूप सुखोपभोग से वास्तविक सुख कभी नहीं मिल पाता। मनुष्य उसकी खोज में मृग-मरीचिका की भाति कष्ट उठाता है। अनेक विद्वानों का मत है कि सुख स्वयं सुख की खोज में रहने से नहीं, सुख की चिन्ता छोड़कर जो काम किये जाते हैं, उनके करने से अथवा उनकी सिद्धि से मिलता है। यह बात तर्क-सिद्ध भी नहीं कि सुख ही सब कुछ है।

स्पेन के मुअरों के इतिहास में यह कथा है कि जब वहा तीसरा अब्दुर-रहमान नाम का बादशाह राज कर रहा था, तब उसने यह देखने के लिए कि मेरे दिन कैसे कटते हैं, अपनी डायरी रखनी शुरू की, जिसे देखकर पता चला कि पचास बरस की बादशाहत में कुल चौदह दिन सुखपूर्वक बीते। एक विद्वान् ने हिसाब लगाकर बताया है कि संसार को सुखमय और दुःखमय कहने वालों की संख्या बराबर है। इस प्रकार ऐन्द्रिक सुख का मूल बहुत कम रह जाता है। इसलिए उपयोगितावादी मिल ने भी मानसिक सुख की योग्यता शारीरिक-ऐन्द्रिक सुखों से अच्छी बताते हुए यहा तक कह डाला है कि सन्तुष्ट सुखी सूअर से असन्तुष्ट मनुष्य होना अच्छा है और ऐसे सन्तुष्ट मूढ़ों से जिन्हें तुलसीदासजी के शब्दों में "जगद्गति" नहीं व्यापती, असन्तुष्ट सुकरात होना अच्छा है। सोच-कर देखा जाय तो मालूम होगा कि केवल ऐन्द्रिक सुख-भोगों की दृष्टि से पशुओं और मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर हैं तो 'शक्ति' नामक पुस्तक में बर्ट्रण्ड रसल के कथनानुसार, यह कि पशुओं की प्रवृत्तिया आत्म-रक्षा तथा आत्म-वृद्धि से, भोजन-मैथुनादि से अधिक आगे नहीं जातीं, परन्तु मानव की प्रभुता-गौरवादि सम्बन्धी सुखेच्छाएँ अतृप्त, दुर्दम्य और सर्वभक्षी होती हैं।

वास्तविक सुख मन का आनन्द है। स्थायी सुख ज्ञान-रति में, विश्व और मनुष्य के रहस्य को समझने में है। सच्चा एव अक्षय सुख सात्विक

ज्ञान द्वारा अखिल विश्व की एकता का पूर्ण रूप से अनुभव कर लेने में और इस ज्ञान से निष्ठ बुद्धि के अधीन मन की आज्ञानुसार विषयों को यथायोग्य भोगते हुए भी तज्जन्य सुख को बाह्य पदार्थों से मिलने वाला सुख न समझकर अपने सच्चिदानन्द के आनन्द द्वारा मिलने वाला सुख समझने की सामर्थ्य में है।

अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी सुख की इस भौतिकवादी परिभाषा को नहीं मानते। श्रीमती नौक्स का कहना है कि सुख वास्तव में बाहर या इन्द्रियों में नहीं, वह हमारे भीतर मन में अथवा आत्मा में है। वह बाह्यानन्दों से नहीं मिलता। एडवर्ड कारपेण्टर का कहना है कि जब तक अपने विषय में सोचना न छोड़ोगे, सुख हो ही नहीं सकता। इसलिए अपने को किसी ऐसे काम में लगा देने से, जिसमें मनुष्य अपने को भूल जाता है, सबसे अधिक दिव्य आनन्द आता है।

इन्हीं कारणों से अब पाश्चात्य विद्वानों में भौतिक सुख-वाद और अधिकांश लोगो के अधिक सुख के सिद्धात के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई है। आधुनिक मनोविज्ञानाचार्यों का कहना है कि मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं, वे सुख की इच्छा से नहीं, अपनी जन्म-जात नियत मनोवृत्तियों से, सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर करते हैं। इनमें डाक्टर वाटसन आदि व्यवहारवादी और मैकडानलादि प्रधान हैं।

एफ० एच० ब्रैडले का कहना है कि सबके जोड़ के माने हैं, कोई नहीं। पाश्चात्य विद्वान् यह मानने लगे हैं कि अधिकाश लोगों का अधिक सुख सर्वसुख का समानार्थवाची नहीं है। स्वार्थ-सुखादि के आधार पर परार्थ क्यों करें, इस बात का समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता। सुख का निर्णय अंततोगत्वा कर्त्ता की बुद्धि पर ही छोड़ना पड़ता है; और इस तरह गीता के शुद्ध बुद्धि वाले सिद्धात की अनिवार्य आवश्यकता माननी पड़ती है; क्योंकि बैकन के कथनानुसार अशुद्ध बुद्धि को वेश, गुहा, हाट-बाजार और की मूर्तियां सदैव अपने वश में रखती हैं। मानव के विचार काम, स्वार्थादि मनोविकारों से दूषित

रहते हैं। अर्द्धचेतन की प्रेरणाओं के सामने बुद्धि अधिकतर नपुंसक रहती है और ऐसी बुद्धि केवल यन्त्र-मात्र रह जाती है, जिससे हम अपने को यह धोखा दे सकें कि जिसे हम सत्य तथा पुण्य समझना चाहते हैं, उसे सत्य और पुण्य समझ लें। चित्त की कुछ अवस्थाएं स्वयं अपने में मूल्यवान होती हैं, जैसे स्वधर्मार्थ प्राण तक त्याग देने के लिए उद्यत रहने की मनोदशा। और इससे, वाह्य परिणामों से ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने वाले सुख-वादी और उपयोगिता-वादी दोनों ही पक्ष सदोष सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे अन्तर अनुभूति और कुछ मनोदशाओं के स्वयं अपने में रहने वाले मूल्यों पर ध्यान नहीं देते।

मन-निर्भर सुखवादी और उपयोगितावादियों के सिद्धान्त हैं कि मानों तो देवता, नहीं तो पत्थर। यानी पाप-पुण्य और कुछ नहीं, जिसे अपने मन से पाप समझ लो, वही पाप और जिसे पुण्य समझ लो, वही पुण्य। इनके मतानुसार अच्छाई भी शेष सब बातों की तरह रुचि का प्रश्न है। वस्तुओं में स्वयं कुछ मूल्य नहीं होता, मन उसमें अपनी इच्छानुसार मूल्य थोप देता है।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि सुख ही ससार में सबसे बड़ी अच्छाई है, यह बात युक्तियों द्वारा अनुमोदित नहीं की जा सकती। सुख ही सब कुछ नहीं है। अच्छाई स्वयं अपना मूल्य है। भौतिक सुख-वाद के फलस्वरूप पश्चिमी देशों में फासिस्टवाद और मार्क्सवाद का जन्म हुआ है। फासिस्ट-वादी भौतिक शक्ति को ही संसार में सब कुछ मानते हैं और उसे प्राप्त करने में सदाचार-दुराचार की भावनाओं को धता बताकर अपना काम सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार मार्क्सवादी भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभ्यता, संस्कृति और सदाचार को पूंजीपतियों-शोषकों का सदाचार कहकर दुरदुराते हैं। दोनों ही, गीता के सोलहवें अध्याय में जिस आसुरी वृत्ति का वर्णन किया गया है, उसको अक्षरशः चरितार्थ करते हैं। सातवें श्लोक में कहा गया है कि ये लोग जगत् को अनीश्वर कामहैतुक, अपरस्पर संभूत मानकर, न शौच की परवा करते हैं, न सत्य

और आचार की। और अपनी इस नष्टात्मा तथा अल्प बुद्धि से संसार के सर्वनाश के लिए उग्र कर्म उत्पन्न करते हैं।

सभी भौतिकवादी इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे पाते कि हम कर्म करने में स्वतंत्र क्यों हैं ? इनके मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, जीवन-विज्ञान सभी इस बात का समर्थन करते हैं कि मनुष्य प्रकृति वंश, समाज, स्वभाव आदि से बंधा हुआ है। न तो वह अपने प्रारम्भिक चरित्र या प्रवृत्तियों के लिए ही जिम्मेदार है, न प्रारम्भिक देश-कालावस्था के लिए। ये दोनों ही चीजें मनुष्य को जन्म लेते समय परमेश्वर अथवा प्रकृति-प्रदत्त मिलती हैं। गीता के शब्दों में मनुष्य की बुद्धि, उसका ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख-दुःख, भयाभय, अहिंसा, समता, तुष्टि यश—अयश आदि भावनाएं 'प्रदत्त' मिलती हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान आचार्य डाक्टर वाटसन आदि व्यवहारवादी पण्डितों का कहना है कि मनुष्य अपने सब व्यवहार यंत्रवत् करता है। वह स्वेच्छापूर्वक अथवा नियत व्यापारों के प्रतिकूल कुछ नहीं कर सकता।

भौतिकवादियों के पास इस नियुक्तिवाद के विरुद्ध कोई दलील या प्रमाण नहीं है। वे उसके पक्ष के प्रबल प्रमाणों को देखकर निरुत्तर हो जाते हैं और इस प्रकार जब उनके विज्ञानों के अनुसार मनुष्य कर्म करने में परतंत्र है, वह अपने कामों के लिए जिम्मेदार ही नहीं है, तब उनके यहाँ क्या करें, क्या न करें का सवाल ही नहीं पैदा होता और समस्त भौतिकवादी कर्त्तव्य-शास्त्र ढेर हो जाता है। उनके भौतिकवादी कर्त्तव्य-शास्त्र का भवन बालू के ढेर की तरह ढह जाता है जैसा कि इसी अध्याय में पहले कहा जा चुका है, गीता में नियुक्तिवाद का समुचित उत्तर दे दिया गया है।

यही कारण है कि आधुनिक पाश्चात्य विचार-प्रवाह गीता के कर्म-शास्त्र का समर्थन करने लगा है। अफलातून 'सैण्ट थौमस' एक्विनास आदि का मत तो पहले ही से गीता के मत से मिलता-जुलता था। काण्ट-ग्रीन-प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् भी पहले ही से गीता-पक्ष के ही पथिक थे

और पाश्चात्य कर्त्तव्य-शास्त्रियों में काण्ट का स्थान है भी बहुत ऊँचा। बहुत-से तो उसे कर्त्तव्य-शास्त्र पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लेखक समझते हैं। उसका नैतिक सिद्धान्त, जो गीता के शुद्ध बुद्धि के सिद्धान्त का समर्थन करता है, है भी पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में सबसे अधिक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त। अफलातून ने सदाचार के यही माने बताये हैं कि वासनात्मक बुद्धि निर्णयात्मक बुद्धि के अधीन हो और निर्णयात्मक बुद्धि अधिकाधिक वास्तविक तत्त्व का परिचय पाती जा रही हो। यीशु निर्बलों पर दया को, नीट्शे बलवान् की वीरता को, प्लेटो जोवन की पूर्णता के कारगर सामञ्जस्य को ही कर्त्तव्य-शास्त्र का सर्वस्व बताते हैं, परन्तु वास्तविक कर्म-शास्त्र इन तीनों के समुचित सम्मिश्रण में है और वह गीता में है।

पाश्चात्य सोद्देशवादियों का कहना है कि प्रत्येक प्राणी का सर्वोच्च कल्याण उस प्राणी के स्वभाव के पूर्ण विकास ही में है। मनुष्य की निर्णयात्मक बुद्धि ही उसका सर्वोच्च कल्याण है। दर्शन-विज्ञानों में जो सर्वव्यापी सनातन नियम पाये जाते हैं, वे मनुष्य में देवत्व के सूचक हैं।

सी० ई० एमजोड नाम के एक विद्वान् लेखक ने यह मत प्रकट किया है कि कर्त्तव्य-शास्त्र की परिभाषा करना बहुत कठिन है। उसमें जिन विषयों पर विचार किया जाता है वे अधिकतर ऐसे होते हैं कि जिनका निर्णय अधिकतर हमारा जो नैतिक दृष्टिकोण होता है, उस पर निर्भर करता है। अन्तिम अच्छाई क्या है, इस नाम की कोई चीज़ वह है भी? नैतिक बन्धन का आधार क्या है? हमें जो करना चाहिए उसे क्यों करना चाहिए? किस शक्ति से हम अपने नैतिक बन्धन का पता लगा सकते हैं? उचित कार्य क्या है? उसमें व अनुचित कार्य में क्या भेद है? इन प्रश्नों का साफ-साफ उत्तर देना बहुत कठिन इतना कठिन है कि यह असम्भव मालूम होता है कि कभी भी इन प्रश्नों का ऐसा उत्तर दिया जा सकेगा जो सर्वमान्य हो। इतना निश्चित है कि अभी तक इन प्रश्नों पर कोई मतैक्य नहीं। नैतिक प्रवृत्तियों को साबित करना सम्भव नहीं, जब तक कि हम कुछ ऐसे सिद्धान्तों को न मान लें कि

जिनकी सच्चाई प्रदर्शित नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, उपयोगिता-वादियों के लिए वे ही कर्म कर्त्तव्य हैं, जिनके बाह्य परिणाम हितकर हैं। अन्तर्दृष्टि-पक्ष वाले उन्हीं कामों को उचित समझते हैं, जो नैतिक भाव को उचित जँचे। वस्तुनिर्भरवाद के लिए अच्छाई वह अन्तिम सिद्धान्त है, जो विश्व में सत्य व विश्व से स्वतन्त्र है, जो मनोनुकूल तो हो, पर मनोत्पन्न न हो। मन-निर्भर-वादियों की राय में जिसे मन अच्छा समझे, वही अच्छा है। तर्क के ये चक्र उस समय तक नहीं हट सकते, जब तक हम यह न मान लें कि कर्त्तव्य-शास्त्र सम्बन्धी वाद-विवाद अन्त में उन प्रदेशों में पहुंच जाता है, जहाँ पहुँच कर परिणाम बुद्धि-सम्मत होने के कारण बुद्धि से प्रदर्शित भी नहीं किये जासकते। वास्तव में कर्त्तव्य-शास्त्र की आधार-भूतशिलाएं बुद्धि-निर्भर नहीं अन्तर्दृष्टि निर्भर है। कर्त्तव्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों पर हमारे विचार सही हो सकते हैं, परन्तु वे वर्णन के लिए बहुत दुस्साध्य हैं। हम अच्छे-बुरे की अनुभूति कर सकते हैं, परन्तु न तो ऐसा अनुभव करने का कोई कारण ही दे सकते हैं, न उनकी परिभाषा ही कर सकते हैं। सच बात यह है कि कर्त्तव्य-शास्त्र नाम का कोई शास्त्र रचा ही नहीं जा सकता।

ये विचार हैं जो "आचार और राजनीति दर्शन का पथ-प्रदर्शन" नामक पुस्तक के लेखक ने प्रकट किये हैं। जब १६३८ में समस्त पाश्चात्य कर्त्तव्य-शास्त्र को मथ कर उस पर पुस्तक लिखने वाले विद्वान का यह मत है, तब भौतिकवादी कर्त्तव्य-शास्त्र के खण्डन और गीता के अध्यात्मवादी कर्म-शास्त्र के मण्डन में और कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? यदि इन प्रमाणों के आधार पर हम यह कहते हैं कि गीता के कर्म-सिद्धांत जैसा, अचूक और सनातन सिद्धात और कहीं नहीं है, तो क्या अनुचित कहते हैं?

काण्ट उचित और अनुचित कर्म में पहचान ही यह बताया है कि बुरा काम कभी निस्वार्थ भाव से नहीं किया जा सकता। जब कभी

हम कोई बुरा काम करते हैं, तब किसी-न-किसी स्वार्थ से प्रेरित होते हैं, जब कि अच्छे काम में हमारा कोई स्वार्थ हो या न हो, हमारी आत्मा स्वयं उसे ही अपना ध्येय समझ लेती है। इसलिए कर्त्तव्य-कर्म में फल की परवा नहीं की जा सकती। वह केवल इसलिए किया जाता है कि उसे करना हमारा कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य-कर्म की अवहेलना नहीं की जा सकती। उसकी आज्ञा टाली नहीं जा सकती। जब कि बुरे कर्म--उन्हें हम करें या न करें--इस तर्क-वितर्क पर निर्भर रहते हैं। काण्ट ने इस प्रकार सत्काय की व्याख्या तो कर दी, परन्तु उसे हम कैसे जानें, इसका कोई समुचित उपाय उन्होंने नहीं बताया। वासनात्मक बुद्धि और व्यवसायात्मक बुद्धि को अचल करनें का यह उपाय गीता में बताया गया है और वही है सर्वात्मक भाव की अनुभूति। कर्तव्य-शास्त्रों के पाश्चात्य पण्डितों ने अब अनुभव किया है वि उपयोगितावादी भी अन्तर्दृष्टि को सर्वथा अस्वीकार नहीं कर सकते। उन्हें यह मानना पड़ता है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करते समय कर्म, उसको करने का उद्देश्य, और उसके परिणाम तीनों का पूर्ण रूप से समस्त स्थिति का साकल्य रूप से, विचार करना पड़ता है। उनमें से किसी एक या दो से काम नहीं चल सकता।

समाजोपयोगिता की दृष्टि से भी केवल बाह्य परिणामों पर विचार करने वाली दृष्टि की त्रुटिया अब स्पष्ट हो गई हैं। अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि सब समाज ऐसे नहीं, जिनकी सेवा, रक्षा या वृद्धि की जाय। कुछ समाज निश्चित रूप से बुरे होते हैं। और न इस बात का ही कोई प्रमाण है कि सब समाज उन्नतिशील हैं। स्पेंगलर ओस्वाल्ड ने 'पश्चिम का ह्रास' नामक प्रखर पाण्डित्यपूर्ण पुस्तक में यह सिद्ध कर दिखाया है कि प्रत्येक समाज का सतत उन्नति सम्बन्धी विश्वास मूढ़ विश्वास-मात्र है। वाल्टर पीटर ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि मनुष्य का उद्देश्य अनुभूति के फल पाना नहीं, स्वयं अनुभूति है। जीवन की सफलता सदैव दिये की ज्योति की तरह स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देने और स्वयं इसी निःस्वार्थ बलिदान में दिव्यानन्द अनुभव करने में है।

पाश्चात्य कर्म-शास्त्रियों को अन्त मे यह मानना पड़ा है कि इस जगत् में कोई-न-कोई वस्तु ऐसी अवश्य है, जो स्वयं अपने में और अपने लिए अच्छी तथा मूल्यवती है। वह अन्तिम मूल्य निरूपम है। इसकी कोई उपमा नहीं दी सकती है न उसका वर्णन ही सम्भव है। उसका विश्लेषण भी नहीं किया जा सकता। इस मूल्य का अनुभव करने की योग्यता और अच्छे कार्य करने की प्रवृत्ति प्रत्येक मानवात्मा में जन्म-जात होती है। नैतिक अनुभव को बताया नहीं जा सकता—सत्यं, शिवं, सुन्दरं की यह अनुभूति विश्वव्यापी है। इस विश्व में निरूपम और स्वतंत्र शक्ति विराजमान है। समस्त विकास की प्रक्रिया का ध्येय ही यही है कि मानव बुद्धि को इतना शुद्ध कर दिया जाय कि उस शक्ति को धुंधली दृष्टि से देखने के बदले उसके निर्भ्रान्त दर्शन कर ले। प्रिंसीपिया ऐथिक्स नामक पुस्तक में प्रोफेसर जी० ई० मूर ने लिखा है कि कार्यों का मूल्य परिणामों से अवश्य नापा जाना चाहिए, परन्तु परिणामों का मूल्य तो अन्तर्दृष्टि से ही जाना जा सकता है। स्पिनोजा के शब्दों में सुख उस वस्तु के गुण पर निर्भर करता है, जिस पर हम प्रेम करते हैं। अव्यय और अक्षय आत्मा का प्रेम हमारे मन को विमल सुख से सराबोर कर देता है। जोड का कहना है कि आनन्द चित्त की उन सब क्रियाओं के पीछे-पीछे दौड़ता है जो अविनाशी आत्मा की अनुभूति के लिए की जाती हैं।

स्पष्ट है कि कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने के लिए धर्मवादियों और उनसे भी बढ़कर भौतिकवादियों की कसौटिया खोटी हैं। गीता की बताई कसौटी ही उसकी सर्वोत्तम कसौटी है। और यह कसौटी है सर्वोत्तम भावरूपी आत्यन्तिक सुख तथा इस भाव की सहचरी शुद्ध बुद्धि की आध्यात्मिक कसौटी।

आचार-शास्त्र की सामग्री Data of Ethics में स्पेंसर ने भी गीता के इस सिद्धान्त के पक्ष में मत प्रकट किया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह दलील देना कि वह कठिन है, कोई दलील नहीं है। कैप्टेन रैशडोल के शब्दों में यदि कोई जंगली उँगलियों पर ही गिनने की शक्ति

रखता है; तो उसकी इस अयोग्यता से पहाड़ गलत थोड़े ही साबित हो जाते हैं। कर्म-शास्त्र मे लेस्ली स्टीफन ने, डी० जी० रिशी ने डार्विनवाद और राजनीति में तथा हौब हाऊस ने "लोक-तन्त्र और प्रतिक्रिया" नामक ग्रथों में यह प्रतिपादित किया है कि विकास वह आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जो मानव-बुद्धि के आध्यात्मिक ससार में काम करती है।

आल्डस हक्सले ने अपनी "साध्य और साधन" नामक पुस्तक में तीसरे पृष्ठ से लेकर छठे तक गीता के शुद्ध बुद्धि वाले अनासक्ति योग के सिद्धान्त का समर्थन किया है। प्राच्य-पाश्चात्य सभी विचारक अब इस बात को मानने लगे हैं कि अच्छे बुरे का निर्णय शुद्ध बुद्धि से तादात्म्य होकर ही किया जा सकता है, फिर चाहे इस अनुभव के कारण हम भले ही न बता सकें। यह निर्णय अंतर्ज्योति से ही हो सकता है। अपने को पूर्णरूप से विश्वात्मा के अधीन और उसी से प्रेरित करने पर ही बुद्धि शुद्ध होती है। स्वार्थ-त्याग की यह भावना दिव्यता की द्योतक होती है—वास्तव मे वह विश्वात्मा की ओर आत्मा का सहज खिचाव है।

इस प्रकार गीता की विश्व और मनुष्य सम्बन्धी अध्यात्मवादी व्याख्या की तरह कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान इसी निष्कर्ष पर पहुंच रहा है कि तत्त्वविषयक गीता स्थिर निर्णयात्मक बुद्धि और शुद्ध वासनात्मक बुद्धि का सिद्धान्त है। उसे छोड़-कर कर्तव्याकर्तव्य की जितनी कसौटिया हैं, वे सब खोटी हैं।

गीता का कर्म-शास्त्र का यह सिद्धान्त विधि-निषेध का सिद्धान्त नहीं, जीवन का एक मार्ग सोचने तथा अनुभव करने की एक ऐसी उत्तम पद्धति है कि जिससे बिना विधि-निषेध के नियमों के प्रत्येक अवसर पर स्वतः यह प्रत्यक्ष दीख जाता है कि क्या करना चाहिए। इस प्रकार अचूक निर्णय कर लेने वाला व्यक्ति शारीरिक तथा पारिवारिक सुख-दुःखों का तो कहना ही क्या, जीवन-मरण रूपी रूपान्तरों से भी स्वनिश्चित कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होता। वह शोक-मोह से रहित दृढ़तापूर्वक

अपना नियत कर्म करता है। गीता के बुद्धियोग के मानी यह हैं कि आत्म-ज्ञान की साम्य-बुद्धि को सासारिक व्यवहार से जोड़ा जाय। गीता के स्थित-प्रज्ञ का दुर्ग अभेद्य है, उसका सत्य अनिर्वाच्य! अंधे यदि यह न समझ सकें कि दृष्टि क्या है, तो इसमें आंखों का क्या दोष?

परिवर्तन का भी संदेश देता है। गीता का व्यावहारिक वेदांत जगत् को मिथ्या नहीं बताता, न वह जगत् के व्यवहार त्यागने का ही उपदेश देता है। छठे अध्याय में अपनी आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करने का उपदेश स्वयं भाग्य-निर्माण करने और इतिहास रचने का सर्वोत्तम सन्देश है।

पश्चिम के सबसे विकट कर्मकांडी नीत्से का कर्मयोग गीता के निष्काम-कर्मयोग के सामने फीका है। नीत्से अपने ज़राथुल्ट्र (Zarathultra) से कहता है, जराथुल्ट्र सत्य की घोषणा करके नष्ट हो जा। गीता अपने अर्जुन से कहती है—उठ, सत्य के लिए युद्ध करने के लिए खड़ा हो। तेरा नारा हो विजय या मृत्यु। इस प्रकार की मृत्यु में मरने वाले की मृत्यु नहीं, मृत्यु की मृत्यु है। यों तो जो कोई भी मरता है, उसका जन्म निश्चित है, मृत्यु और जन्म एक ही चीज के दो पहलू हैं, परंतु कर्त्तव्य-पालन की मृत्यु वह अमर जीवन है, जिसमें जीत और जीवन से भी कहीं अधिक सुख है। साधु तुकाराम के शब्दों में गीता का कर्मयोगी मृत्यु के भी दर्शन करके परमानन्द प्राप्त करता है। गीता का कर्मयोगी मुंह बाए खड़े हुए महाकाल के मुंह मे कूदकर उसके दंष्ट्राकरालानि से विकराल जबड़ों से अमर जीवन का खेल खेलता है। नीत्से अपने श्रेष्ठ पुरुषों से कहता है "सतत सङ्कट का आह्वान करो। ज्वालामुखी के मुंह पर अपना नगर बसाओ। महासागर के जिन प्रदेशों में किसी की गति नहीं हुई, वहीं जाकर उन प्रदेशों का पता लगाओ!" गीता का उपदेश है, मृत्यु के मुंह में बसो। जीवन-सागर के अन्तरतम प्रदेशों का पता लगाओ। संक्षेप में गीता का कर्मयोग मृत्युञ्जय का महामन्त्र है। सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पत्तियों को गिनाते हुए अभय का नाम सबसे पहले आया है। "जातिस्य हि ध्रुवं मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च" तथा "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि" के मंत्रों से दीक्षित गीता के कर्मयोगी को भौतिक शरीर का इतना मोह रह ही नहीं सकता कि वह कर्त्तव्य-पालन में कष्टों से या मृत्यु से डरे।

त्मका बुद्धि से ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने का उपदेश देकर छियालीसवें-सैंतालीसवें श्लोक में स्पष्ट यह कहा है कि तेरा अधिकार कर्त्तव्य-कर्म करने का है फल पाने का नहीं। इसलिए तू न तो कर्म-फलों की इच्छा मे आसक्त हो और न अकर्म में; कर्म न करने में ही आसक्ति रख। योगस्थ होकर, आसक्ति छोड़कर, सिद्धि-असिद्धि में सम-भाव रखकर "कुरु कर्माणि" कर्म कर। सम बुद्धि से कर्म करने को ही योग कहते हैं। पचासवे श्लोक में कहा गया है कि कर्म दक्षता को ही योग कहते हैं। 'योगः कर्मसु कौशलम्'। इक्यानवें श्लोक से लेकर दूसरे के अन्त तक बुद्धि शुद्ध करने की, चित्त-शुद्धि का जो उपदेश दिया, उससे भ्रम में पड़कर अर्जुन ने तीसरे अध्याय के पहले ही श्लोक में यह कहा कि जब मेरी समझ मे आप कर्म से बुद्धि को श्रेष्ठ बताते है, तो फिर मुझे युद्ध-जैसे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं? निश्चित रूप से मुझे यह बताइये कि कर्मयोग और ज्ञान योग मे कौन-सा श्रेष्ठ है? इसके उत्तर में आठवें श्लोक मे स्पष्ट शब्दों में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यह आदेश दिया कि तू नियत कर्म कर। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। कर्म न करने पर तो शरीर-यात्रा भी असम्भव हो जायगी। नवें श्लोक मे फिर यह स्पष्ट आदेश दिया कि इस संसार मे यज्ञकर्मों के अतिरिक्त जितने कर्म हैं, उनको भी मीमासक लोग बन्धन मानते हैं। अतः तुम निश्चिन्त होकर यज्ञार्थ अर्थात् लोक-कल्याणार्थ कर्म करो, लेकिन उन्हें भी आसक्ति हीन होकर करो। इस प्रकार इस श्लोक मे ज्ञान और कर्म का पूर्ण समुच्चय कर दिया। और इस प्रकार योग-वाशिष्ठ मे हारीत स्मृति का पक्षी के पंखों वाला दृष्टांत देकर यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार पक्षी दोनों पंखों से उड़ता है, उसी प्रकार परमात्मा की और आत्मा की उड़ान भी ज्ञान और कर्म दोनों से होती है। ईशोपनिषद् के शब्दों में गीता अव्यावहारिक ज्ञान और ज्ञान-रहित कर्म दोनों को हानिकर समझती है। इसके आगे यह बताया है कि यज्ञ-चक्र से ही इस समस्त संसार की सृष्टि हुई है, अर्थात् यह संसार-

जाते हैं। इस प्रकार उसे जो नैष्कर्म्य कर्म छोड़ने पर नहीं मिल सकता था, वही कर्म करते हुए मिल जाता है। सैंतीसवें श्लोक में यह उपदेश दिया है कि जिस तरह प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी तरह सर्वात्म-भाव से निष्काम कर्म करने वाले कर्मयोगी के भी सब कर्म भस्म हो जाते हैं। इकतालीसवें श्लोक में कहा है कि जो कोई सर्वात्म-भाव से अहंकारजन्य भेद-भाव को नष्ट कर देता है और फलाशा का संन्यास कर देता है, उसे कर्मों का बन्धन नहीं होता। पाचवें अध्याय के पहले श्लोक में अर्जुन के यह पूछने पर कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मे कौन-सा श्रेष्ठ है, इसी अध्याय के दूसरे श्लोक मे भगवान् ने उत्तर दिया कि संन्यास और कर्म-योग दोनों ही कल्याणकारी हैं, परन्तु इन दोनों में कर्मयोग विशिष्ट है। चौथे-पाचवें में यह कहकर कि संन्यास और कर्मयोग एक ही है छठे मे यह स्पष्ट किया कि सन्यास कष्ट-साध्य है, और कर्मयोग थोड़े ही काल में सध जाता है। सातवे श्लोक में कहा कि जो विशुद्धात्मा जितेन्द्रिय सर्व-भूतों की आत्मा अपनी जैसी ही आत्मा समझता है वह कर्म करते हुए भी उनके पाप-पुण्य से लिप्त नहीं होता। दसवें श्लोक में यह अमर आश्वासन दिया कि जो सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करके सबके कल्याण के लिए करता है, वह कर्म-फल वासनाओं से उसी प्रकार अलिप्त रहता है, जैसे पानी मे कमल-पत्र। ग्यारहवें श्लोक मे कहा है कि योगी आत्म-शुद्धि के लिए केवल मन-बुद्धि शरीरादि से काम किया करते हैं। पच्चीसवें श्लोक में ऋषियों को ब्रह्म-निर्वाण के जो साधन बताये हैं, उनमें सर्वभूत हिते रत: स्वभावत: गिनाई गई हैं। छठे अध्याय के पहले ही श्लोक में यह कहा गया है कि योगी और संन्यासी वही है, जो कर्म-फल का आसरा लिये बिना कर्त्तव्य-कर्म करता है, वह नहीं जो अक्रिय तथा कर्त्तव्य-विमुख रहता है। दूसरे में कहा कि संन्यास और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, क्योंकि कर्मयोगी को भी फलाशा का त्याग (संन्यास) तो करना ही पड़ता है। तीसरे श्लोक में सन्यास और कर्मयोग की मीमासा पराकाष्ठा पर पहुंच गई है। कहा गया है कि योगा-

तक ज्ञानियों के लक्षणों, कर्म में मूर्त होने वाले गुणों का वर्णन करके यह स्पष्ट किया है कि गीता का ज्ञान कर्ममय है।

अठारहवें अध्याय के दूसरे श्लोक में काम्य (स्वार्थ) कर्मों के न्यास को संन्यास और कर्म-फल त्याग को त्याग बताकर फिर संन्यास और कर्मयोग की एकता दिखाई है।

इसी अध्याय के पाचवे से लेकर आठवें श्लोक तक कहा है कि मेरी निश्चित उत्तम सम्मति है कि चित्त-शुद्धिकारक कर्म तो आसक्ति और फलाशा को छोड़कर करने ही चाहिए। परन्तु जो कर्म लोक-संग्रहार्थ नियत हैं, उनका संन्यास उचित नही है। मोह से उनको छोड़ना तामसी निकृष्ट श्रेणी का और दुःखों तथा काय-क्लेशों के भय से कर्त्तव्य कर्मों को छोड़ना मध्यम श्रेणी का त्याग है। सर्वोत्तम त्याग आसक्ति तथा फलाशा छोड़कर करना ही है। यही सात्विक अर्थात वास्तविक त्याग है। छप्पनवे श्लोक में सदा सर्वात्मभाव का आश्रय लेकर सब कर्मों को करने से ही शाति और शाश्वत पद पाने का आश्वासन दिया है और उनसठवें मे यहा तक कह दिया है कि अगर अहङ्कारवश होकर अपने कर्त्तव्य-कर्म से मुंह मोड़ेगा, तो सब प्रयत्न व्यर्थ जायगा, प्रकृति तुझे कर्म करने के लिए विवश कर देगी। इस अध्याय के छियालीसवें श्लोक मे यह कहा है कि जिससे प्राणी-मात्र की प्रवृत्ति हुई है और जिससे अखिल विश्व का विस्तार हुआ है, उसको अपने कर्मों से अर्चित करके मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। इन्ही उपदेशों के फलस्वरूप अन्त मे अर्जुन ने यह कहा कि मैंने ध्यान से आपका उपदेश सुना, उससे मेरा सब मोह नष्ट हो गया, मुझे अपने कर्त्तव्य का स्मरण हो आया, अब मैं सन्देह-रहित निश्चयात्मक स्थिति में हूं, इसलिए स्वेच्छा से आपके प्रवचन का पालन करूंगा; अर्थात कर्त्तव्य पालनार्थ युद्ध करूंगा।

इस सब गवाहों के होते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि गीता कर्मयोग का नहीं संन्यास का उपदेश देती है? संन्यास के सर्वप्रथम प्रधान समर्थक स्वामी शङ्कराचार्य का समस्त जीवन स्वयं इस बात का

चाही है कि गीता का संन्यास कामना का संन्यास है, कर्म का संन्यास नहीं । स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में संसार के इतिहास में "किस कर्मयोगी ने इतनी यात्रा की होगी, इतने उपदेश दिये होंगे, इतने ग्रंथ लिखे होंगे, इतने मठ स्थापित किये होंगे, जितने अपने थोड़े-से जीवन में स्वामी शंकराचार्य ने किये ।" वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक सुखों से विरत होकर ज्ञान-विज्ञान में अपना समय बिताना संन्यास नहीं, वह तो ब्राह्मण-कर्म है, जिसे प्रत्येक बुद्धि-जीवी को धर्मपालनार्थ और लोक-कल्याणार्थ करना चाहिए । इस प्रकार के संन्यास की आवश्यकता डाक्टर अलैक्सकैरेल जैसे उच्च भौतिकवादी विज्ञानाचार्य ने अपनी 'अज्ञात-मानव' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में स्वीकार की है । उनका कहना है कि संसार के भिन्न-भिन्न विज्ञानों की अलग-अलग खोजों के फलस्वरूप ज्ञान-भण्डार जितना बढ़ गया है, उस बिखरे हुए ज्ञान के समन्वय-समुच्चय की अत्यन्त आवश्यकता है । इस काम को करने के लिए कम-से-कम सौ प्रतिभाशाली ज्ञानी-विज्ञानियों को पच्चीस वर्ष तक पेट-धन्धे और परिवार-पालन सम्बन्धी समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर तथा समस्त सामाजिक आमोद-प्रमादों और राजनैतिक वाद-विवादों से अलग रहकर इसी कार्य के लिए स्थापित किसी एक विश्वविद्यालय में जुट जाना चाहिए । इससे पहले इसी दृष्टि से शोपेनहार, डार्विन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस प्रकार के संन्यास का समर्थन किया था ।

परन्तु इस प्रकार के संन्यास को ज्ञान-सम्बन्धी खोजों में रत रहने के लिए साधारण गार्हस्थ्य और सामाजिक कामों को छोड़ देने के संन्यास की आवश्यकता गीता के कर्मयोगी ही नहीं वर्तमान भौतिकवादी स्वयं मानते हैं क्योंकि इस प्रकार प्राप्त ज्ञान बिना लोक-कल्याण के सध ही नहीं सकता । गेटे के शब्दों में कर्म में अज्ञान से बढ़कर भयावह और कुछ नहीं । इस भय को दूर करने के लिए ज्ञान अनिवार्यतः आवश्यक है । परन्तु यह ज्ञान तो गीता-ज्ञान की तरह कर्ममय है, कर्म के लिए ही है । "कर्म का उद्गम स्थान, उसका मुख्य स्रोत, उसका मूलाधार है । शंकरा-

चार्य से पहले महाभारत-काल में, गीता की जितनी टीकाएं हुईं वे सब प्रवृत्तिमूलक थी। उन सबमें ज्ञानी पुरुष के लिए ज्ञान-प्राप्ति के साथ-साथ कर्म करने की आवश्यकता बताई गई थी। और बौद्ध, जैनी तथा शंकर मत के समस्त सन्यासियों का जीवन भी धर्मोपदेश व सत्यखोज-शोधन-द्वारा लोक-सेवा का जीवन था।

इसलिए प्रश्न कुछ मनीषियों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति कर्म में ही निरत हो जाने वाले संन्यास का नहीं है, इस प्रकार का संन्यास गीता को मान्य है। संसार मे थोड़े से बौद्धिक, ज्ञानी-सन्यासी-सदैव और सर्वत्र रहेंगे—जैसे चीन के मंगरिन और इस्लाम के दरवेश। इसी प्रकार के संन्यास को वह कर्मयोग की बराबरी का मानती है, परन्तु प्रश्न यह है कि ज्ञानोत्तर कर्म न करने का, कर्मशून्यता का जो सन्यास है, वह ठीक है या नहीं? शंकराचार्य का जीवन बताता है कि नही। गीता का उत्तर है, कदापि नही। गीता के सिद्धात कोरे सिद्धात नही, वे कार्यक्रम हैं।

दूसरे अध्याय के सरसठवें श्लोक में जो 'वायुर्नावमिवाम्भसि' है, उसके मानी यह नहीं हो सकते कि हवा के डर से पानी में नाव खेना ही बन्द कर दिया जाय और न पाचवे अध्याय के दसवे श्लोक के "पद्मपत्र-मिवाम्भसि" का ही यह अर्थ हो सकता है कि जल के डर से कमल पानी में रहना छोड़ दे। उपदेश पानी में रहते हुए, कर्म करते हुए निर्लिप्त रहने का है। कठोपनिषद् के मन रूपी लगाम द्वारा इन्द्रिय रूपी घोड़े को वश मे रखने के दृष्टात के मानी भी यह कदापि नहीं हो सकते कि इन्द्रिय से कर्म करना छोड़ दिया जाय। सारथी वह नहीं है, जो घोड़ों के डर से उन्हें मार दे या तबेले मे बधा रखे। सारथी वह है जो उन्हें घुड़दौड़ में सबसे तेज दौड़ाते हुए भी उन्हे जहा चाहे, जब चाहे और जितना चाहे रोक ले। इंद्रियो के विषय रूपी घोड़े धर्म-बुद्धि रूपी सारथी के काबू से बाहर होने पर ही हानिकर होते हैं—जैसे साप और हिरण का श्रुति सम्बन्धी असंयम, भौरे और हाथी का स्पर्श सम्बन्धी असंयम, पतङ्गों का नेत्र सम्बन्धी असंयम, भौरे का नासिका और मछली का जिह्वा सम्बंधी

दावा मुर्दा नहीं कर सकता, वह तो अर्जुन ही कर सकता है, जो उर्वशी जैसी अनुपम रूप-यौवन-सम्पन्ना अप्सरा को देखकर ही नहीं, उसके प्रणय-प्रार्थना करने पर भी अडिग रहता है ।

हैवलोक एलिस के शब्दों मे "प्रलोभन के बिना संयम बेमानी है। प्रलोभनों का सामना करके उन्हें ठुकराने से ही जीवन और चरित्र, सुदृढ़ तथा संयमी होता है । जो प्रलोभनों का सामना नहीं कर सकते, वे जीवन के योग्य नहीं, क्योंकि प्रलोभन उस संघर्ष के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है जो जीवन का सार है । उसके बिना अभ्यास और परीक्षा का अवसर ही नहीं मिल सकता । इसी दृष्टि से प्रो० एच० ई० आर्मस्ट्रांग ने वैज्ञानिक आविष्कारकों को लोक-सेवा द्वारा, अपनी बुद्धि को शुद्ध और सिद्धान्तों का प्रयोग करने की सलाह दी है । कुमार सम्भव में कालिदास ने भी कहा है कि "विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीरा", मुर्दे अथवा निर्जन वन में रहने वाले रॉबिन्सन क्रूसो न किसी से झूठ बोल सकते हैं और न किसी से व्यभिचार ही कर सकते हैं । क्या इसीलिए उन्हें जीवन-मुक्त कहा जा सकता है ? गीता विश्व को माया या भ्रम नहीं समझती । वह प्रभव काल में उसका अस्तित्व मानती है । वह उसे भी सत्य का ही अंश मानती है। अन्त में बुद्धि से परे के लिए वह कुछ भी हो, मानव-जीवन के लिए वह कम सत्य नहीं है । गीता के मतानुसार ज्ञान निष्काम कर्मों में व्यक्त होना चाहिए । कर्मों में व्यक्त हुए बिना कोरा ज्ञान वन्ध्या है । बेकन के शब्दों में ज्ञान कोरे विवाद अथवा अलंकार के लिए नहीं, कर्म के लिए है । कर्म-हीन विद्या व्यसन मानसिक हस्त-मैथुन से कम बुरा नहीं । कर्म-रत रहना और न रहना बराबर है ! वास्तविक जीवन कर्ममय है, ज्ञानमय नहीं । जब बुद्धों का बोधिसत्व पीड़ित प्रजा के प्रेम-प्राबल्य से निर्वाण छोड़ देता है, जब बुद्ध ने स्वयं संसार में दूसरों के जीवन के लिए अपने जीवन का दान किया, जब अवलोकितेश्वर का यह निश्चय है कि जब तक एक-एक रज-कण बुद्ध न हो जाय तब तक मुझे मोक्ष नहीं

चाहिए, तब गीता का ज्ञानी या सिद्ध कैसे स्वच्छंद बन सकता है ?

गीता का कर्मयोगी संन्यासी तो प्रभुता पद से सदैव धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सब प्रकार के सम्प्रदायों के प्रश्नों और समस्याओं का विरोध करता तथा शोषित, पीड़ित और पददलित जनता की सहायता को दौड़कर उसे स्वस्थ और अनुप्राणित करना चित्त-वृत्ति-निरोध और बुद्धि-शुद्धि योग का अभिप्राय समझता है। जो मानव-समाज और मानव-जीवन की इन समस्याओं से उदासीन रहता है वह गीता-मतानुसार सर्वथा अज्ञानी और अधम है। वह न तो संन्यासी ही है, न गृहस्थ ही, न वानप्रस्थी ही है, न ब्रह्मचारी ही। गीता के निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त तो यह है कि जगत् की सुव्यवस्थिति के लिए लोक-सेवा (यज्ञ) के कर्म निष्काम-भाव से करते रहने से ही धीरे-धीरे व्यक्ति के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति छूटती जाती है।

गीता का भक्ति-मार्ग भी निष्काम-कर्म का पोषक है। अठारहवें अध्याय के छियालीसवें श्लोक का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है जिसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय कर दिया गया है। स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि सर्वात्मा-परमात्मा को अपने कर्मों से पूजकर ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। पाँचवें अध्याय के पचीसवें श्लोक में ब्रह्म-निर्वाण के लिए सर्व भूत हित-रत होना आवश्यक बताया जा चुका है। उन्तीसवें में शान्ति पाने के लिए यह ज्ञान आवश्यक बताया है कि परमात्मा सब भूतों का सुहृद् है। छठे अध्याय के इकतीसवें श्लोक में सर्व भूत-स्थित ईश्वर का भजन करने का उपदेश है। इसके पहले सब भूतों में स्थित आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में स्थित देखकर सर्वत्र सम-दर्शी होने का उपदेश है। बारहवें अध्याय का नाम ही भक्ति-योग है। इस अध्याय के चौथे श्लोक में अव्यक्तोपासना के लिए भी सर्वभूत हित-रत होना आवश्यक बताया गया है। और बारह से लेकर बीसवें श्लोक तक भक्त के जो लक्षण गिनाये गए हैं, वे सब कर्मयोगी के हैं।

आज भी लोक-सेवकों और सत्याग्रहियों तक के लिए उन गुणों का होना आवश्यक माना जाता है।

तीसरे अध्याय के ग्यारहवें-बारहवें और तेरहवें श्लोकों में यह कहा गया है कि यज्ञ अर्थात् स्वार्थ-त्यागमय सेवा से देवता प्रसन्न होते हैं जो इन देवताओं को दिये बिना अर्थात् समाज का अंश समाज को दिये बिना सुख-सम्पत्ति का उपयोग करता है वह चोर है। भक्त को "यज्ञशिष्टाशनः" होना चाहिए, अर्थात् लोक-सेवा करते हुए ही उसके फलस्वरूप जो मिल जाय, उससे सन्तोष करना चाहिए, जो केवल अपनी हंडिया पकाते हैं, अपने लिए कमाते हैं, वे पापों का भोग करते हैं। स्पिनोजा ने भी गीता के इस सर्वात्मा-परमात्मा "वासुदेव-सर्वमिति" भाव का समर्थन किया है। और गीता में कृष्ण भगवान् ने साफ कह दिया है कि जो एक अवलोकितेश्वर अर्थात् जगत् रूपी जगदीश्वर को छोड़कर फलाकांक्षा से दूसरे देवताओं को पूजते हैं, उन अल्प मेधा वालों का फल "अन्तवन्त" होता है। उनकी प्रगति वहीं तक रह जाती है। फ्रांसीसी विद्वान् अगस्त काम्टे ने भिन्न-भिन्न देवताओं की जगह देव-देव मानवता रूपी-महादेव की उपासना-सेवा करने का उपदेश दिया है।

वास्तव में अव्यक्तोपासना ही को गीता में सच्ची उपासना की पदवी दी गई है, इसीलिए भक्ति को ज्ञान और कर्म की ऊंची पदवी. निष्ठा नहीं दी गई। फिर भी गीता ने यह स्पष्ट कहा है कि सर्व-साधारण के लिए अव्यक्तोपासना कष्टसाध्य है अतः व्यक्तोपासना ही उसका एक-मात्र सुलभ साधन है। गीता में ही नहीं रामतापनी सरीखे उत्तरकालीन उपनिषद् में भी मानव रूपधारी सगुण परमेश्वर की निस्सीम और एकान्तिक भक्ति को ही परमेश्वर-प्राप्ति का उत्तम साधन बताया गया है। जब भीष्म और हनुमान सरीखे अनन्य भक्त कर्मवीरता के चरम आदर्श पाये जाते हैं, तब भक्ति को संन्यास-मूलक बताना किसी भी प्रकार मान्य नहीं हो सकता।

गीता के ग्यारहवें अध्याय में विश्व को भगवान् का विराट् स्वरूप

फलाशा छोड़कर उसे करता है।

गीता का कर्मयोगी शोपेनहार के मेधावी (Genius), कार्लाइल के महापुरुष (Hero) और नीत्से के मानवेतर पुरुष से भी अधिक आदर्श और साथ ही व्यावहारिक है। उसकी दृष्टि में मानव-जीवन का उद्देश्य मानवेतर होना, नर से नारायण होना है। अपने कर्त्तव्य का पालन करने में आने वाली मृत्यु का वह प्रेयसी की भांति आलिंगन करता है। वह जड़ता का विरोधी और सृजन-कार्य का समर्थक होता है। गेटे के शब्दों में ईश्वर ऐसे ही कर्मयोगियों से कारगर (अवतरित) होता है मुर्दों में नहीं। कर्मयोगी यह जानता है कि महान् जीवन संकट का जीवन होता है। उसमें विजय या मृत्यु दो में से ही चुनाव करना पड़ता है और विजयार्थ अनिवार्य त्याग के लिए वह सदैव सहर्ष प्रस्तुत ही नहीं, उत्सुक रहता है। वह अपने समय और प्रदेश के कर्म का केन्द्र, इतिहास को आज्ञा देने वाला स्वामी तथा अपने समय और समाज की आत्मा को व्यक्त करने वाला कर्मठ कर्मवीर होता है। उसे उत्तरोत्तर उन्नति में आनंद आता है। कर्म को वह खेल की तरह आनन्द के साथ करता है। सबके साथ तालबद्ध होकर अपनी स्वाभाविक योग्यतानुसार अपने हिस्से के काम वह इस भाव से करता है कि मैं केवल विश्वात्मा की उपदेश-पूर्ति का निमित्त-मात्र हूं।

परन्तु फलाशा-त्याग के मानी कर्मों के प्रति उदासीन होने के नहीं। गीता के अठारहवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में सात्त्विक कार्यकर्त्ता के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह फलासक्ति और अहंकार-भाव से रहित तथा सफलता-असफलता में निर्विकार होते हुए भी उत्साह और अध्यवसाय के साथ अपना काम करता है। इस प्रकार गीता का फलाशा का उपदेश-समता-शास्त्र-सम्मत उपदेश है, क्योंकि हमें केवल कर्म करने का अधिकार है, फल पाने का नहीं। फल का मिलना न मिलना हमारे हाथ में नहीं है। गीता में सब कर्मों के जो पांच कारण बताये गए हैं, उनमें "दैव" भी है? इस "दैव" के अस्तित्व को पाश्चात्य विद्वान्

यकायक फलित होते हैं। स्थिति प्रायः अत्यन्त जटिल और संसार-शक्तियों की गति अकाट्य होती है। जब इस प्रकार के कठिन कर्मों में करोड़ों को बलि देकर भी सफलता निश्चित नहीं होती, तब तुरन्त फल-कामना से निराश होने पर चंचलचित्त कार्यकर्त्ता जो पार्टी और प्रोग्राम बदलते फिरते हैं, उनको यह कर्त्तव्य-भ्रष्टता गीता के फलाशा-त्याग के सिद्धांत का सर्वोत्तम समर्थन है। महात्मा गांधी के शब्दों में गीता से कर्मयोगी साधन की विफलता के लिए तैयार रहता है, परन्तु उसको निष्फलता में ही सफलता की फूटती हुई किरणों की झलक दिखाई देती है। फल-आसक्ति-त्याग वास्तव में कर्मयोगी की अपरिमित श्रद्धा की परीक्षा है। फल पर दृष्टि रखकर कर्म करने वाला प्रायः कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है।

गीता का कर्मयोगी पाप-पुण्य के प्रचलित माप-दण्डों से परे होता है। परन्तु नीत्से के श्रेष्ठ पुरुष की तरह यह पाप-पुण्य से परे (Beyond good and evil) होने के कारण नर-पशु (Blonde Beast) नहीं होता, वह केवल उनसे ऊँचा उठ जाता है। वह अपनी शुद्ध बुद्धि से पाप-पुण्य के प्रचलित माप-दंडों से कहीं बेहतर कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निर्णय कर सकता है। इसी अर्थ में गीता के अठारहवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक में यह साहसी बात कही गई है कि जिसको अहंकार का भाव न हो और जिसकी बुद्धि न लिप्तती हो, वह इन लोकों के संहार का निमित्त बनकर भी न किसी को मारता है, न हत्या-कर्म के बन्धन से बाधता है। स्वामी शंकराचार्य के शब्दों में गीता का जो कर्म-योगी त्रिगुणातीत पथ पर चलता है, उसके लिए विधि-निषेध कैसा ?

ईशोपनिषद् के शब्दों में वह सर्व भूतात्मैक्य सात्विक भाव से, जगत् के सब व्यवहार करता हुआ, अनासक्ति-जन्य स्वतंत्रतापूर्वक सत्व, रज, तम तीनों गुणों का यथायोग्य उपभोग करता है। वह यह जानता है कि कर्म का बन्धन भिन्नता के भाव में है, एकत्व भाव से करने पर कोई भी कर्म-बन्धन नहीं। गीता के कर्मयोगी की अवस्था त्रिगुणातीत अर्थात्

(८)

प्रगति की प्रयोगशाला

गीता के तेरहवें अध्याय के तीसवें श्लोक में कहा है कि जब सब प्राणियों की पृथकता एकस्थ दीखने लगे अर्थात् जब नाना नाम रूप सम्पन्न अखिल विश्व में एक ही आत्मा व्याप्त दिखाई दे और जब इस एक ही सत्य सनातन आत्मा से समस्त विश्व-विस्तार दिखाई देने लगे, तब ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

अब तक यह दिखाया जा चुका है कि गीता का विश्व और मनुष्य सम्बन्धी सिद्धान्त यह है कि एक ही सत्य सनातन आत्मा से समस्त सृष्टि विकसित होती है। यह भी बताया जा चुका है कि तदनुरूप गीता का कर्म-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त यह है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णय की एक-मात्र अचूक कसौटी इस सर्वात्म भाव के ज्ञान से स्थिर निर्णयात्मिका (व्यवसायात्मिका) और शुद्ध वासनात्मक बुद्धि ही है। निष्काम कर्मयोग में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि गीता का विश्व और कर्म सम्बन्धी यह ज्ञान कोरा ज्ञान नहीं है वह कठिन कर्म का, बल्कि अर्जुन के शब्दों मे वह "घोर कर्म" का, सिद्धान्त है। कर्म विचार की प्रक्रियानुसार मनुष्य को पहले इस बात का ज्ञान होता है कि उसका कर्त्तव्य क्या है? इस बात का निर्णय करते समय जब व्यवसायात्मिका बुद्धि यह निर्णय देती है कि अमुक कर्म अच्छा, शुभ और कर्त्तव्य है, तब उसी प्रक्रिया में वासनात्मक बुद्धि मे उसके प्रति अनुराग-भक्ति की उत्पत्ति होती है और उसी भक्ति-भाव से प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करने को प्रयत्नशील होता है।

होता है और अन्त में राष्ट्र से अन्तर्राष्ट्रीयता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सर्वोच्च स्वरूप आता है। इस अन्तिम अवस्था में जीवात्मा की सर्वात्मा की ओर विकास की, व्यष्टि से समष्टि के विकास की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। विण्डल विल्की के शब्दों में एक संसार स्थापित हो जाता है और एच० जी० वेल्स के शब्दों में "संसार संघ" तथा मानव-मात्र की पार्लमेन्ट स्थापित हो जाती है। क्योंकि विकास की इस प्रगतिशील प्रक्रिया का प्रारम्भ परिवार से होता है इसलिए यह कहा जाता है कि जिन उदारचरितो के लिए वसुधैव कुटुम्बकम् होता है उनकी इस उदारता का प्रारम्भ घर से, परिवार से, ही होता है।

विकास की जब एक मंजिल पूरी हो चुकती है, तब दूसरी मंजिल का विकास प्रारम्भ हो जाता है और जब उस मंजिल के पूर्ण विकास का समय आ जाता है, तब वह सन्धि तथा संक्रान्ति-काल, युग-परिवर्तन-काल प्रारम्भ होता है, जिसमें पहली मंजिल का विनाश दूसरों के पूर्ण विकास के लिए अनिवार्य हो जाता है। फिशे के शब्दों में सामाजिक प्रगति का प्रवाह क्रान्तियों का सिलसिला होता है। प्रत्येक युग के जो महापुरुष क्रान्ति-नायक होते हैं, वे परमात्मा के यन्त्र, युगात्मा होते हैं। वे क्रान्ति के जनक नहीं, उसकी दाई अर्थात् उत्पत्ति मे सहायक होते हैं। प्रगति की प्रक्रिया के इस रहस्य को गीता के चौथे अध्याय में, सातवें, आठवें श्लोक, मे बहुत ही हृदयस्पर्शी तथा मनोहर शब्दों में प्रकट किया गया है। कहा गया है, जब-जब धर्म की ग्लानि होती है अर्थात् प्रगति की एक मंजिल का काम पूरा हो जाता है और दूसरी के प्रारम्भ का समय आ जाता है, तब-तब नये प्रगति-धर्म का अभ्युत्थान करने के लिए विशेष शक्तियों की सृष्टि होती है। यह शक्ति प्रगति-साधक शक्तियों (साधुओं) की रक्षा करके और प्रगति-विरोधी दुष्कृत्यों, दुष्ट तथा मूढ़ग्राही शक्तियों का विनाश करके प्रत्येक युग में, अर्थात् हर मंजिल में नये प्रगति-धर्म की समाज के उन्नत तथा विकसित बृहत्तर स्वरूप की संस्थापना करती है। गीता ने इस सिद्धांत में दर्शन-विज्ञान

और इतिहास के तत्त्वों का समुच्चय किया है। मनुष्य का विश्व-नियुक्त भाग प्रगति-प्रवाह से बंधा हुआ है, उससे अलग नहीं है। समाज के विकास की प्रक्रिया उसे माननी ही पड़ती है और समाज, पुरुष, सामाजिक आत्मा-सूत्रात्मा का विकास इस समय राष्ट्र के रूप में है, अतः मनुष्य उससे पृथक नहीं रह सकता।

हिन्दुओं का समस्त अवतारवाद विश्व के विकास और प्रगति की इन्हीं मंजिलों का द्योतक है। विश्व के विकास के इतिहासानुसार पहले जल-चर सृष्टि एक प्रकार की मछली उत्पन्न हुई, तदनुरूप हिन्दुओं का सबसे पहला अवतार मत्स्यावतार है। उसके बाद उभय चर (जल-थल दोनों पर चलने वाली) सृष्टि हुई। फलस्वरूप हिन्दुओं का दूसरा अवतार कूर्मावतार है, क्योंकि कछुआ जल-थल दोनों में रह सकता है। इन दोनों मंजिलों के बाद जल-गर्भ से पृथ्वी (प्रस्तर) का विकास हुआ। इसी समय तीसरे अवतार बराहावतार ने जल से पृथ्वी को निकाला। विश्व के विकास की चौथी श्रेणी तब हुई, जब अर्द्ध मानव अर्द्ध पशु का विकास हुआ, यही नरसिंहावतार है। यह मानव जब तत्कालीन विशालकाय जीवों के मुकाबले में बहुत बौना होते हुए भी बुद्धि में उनसे बहुत बढ़ गया, तब वामनावतार हुआ। जब मानव के विकास का वह युग आया, जिसमें वह हथियारों से काम लेने लगा, तब परशुधर परशुरामजी का जन्म हुआ। इसके बाद के राम-कृष्णादि अवतार समाज के सभ्यता और संस्कृति के उच्च विकसित रूप के द्योतक अवतार हैं।

युगावतार सम्बन्धी हिंदुओं की इस सुन्दर कल्पना का एक पहलू यह भी है कि जब भगवान् अवतार लेते हैं; अर्थात् नये प्रगतिधर्म की संस्थापना-काल में उसे स्थापित करने वाली विशेष शक्ति उत्पन्न होती है, तब देवता भी पृथ्वी पर जन्म लेकर उस अवतार की सेवा-सहायता करते हैं, अर्थात् मानव-हृदय में एक दैवी-स्फूर्ति होती है, जिससे प्रेरित होकर वे उस प्रगति-धर्म-संस्थापक प्रक्रिया को पुष्ट करते हैं। अर्थात् प्रगतिशील व्यक्ति अथवा समूह नवीन युग के नवीन धर्म का स्वागत

करके उस प्रगति की गति को बलवती और वेगवती बनाते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में टी० एच० ग्रीन ने आत्मा के विकास की इस प्रक्रिया का समर्थन यह कहकर किया है कि मनुष्य के शरीर मे एक नित्य और स्वतन्त्र तत्त्व है—उसकी आत्मा। इस आत्मा मे यह उत्कट इच्छा होती है कि वह सर्व भूतान्तर्गत अपने विश्व·सामाजिक-पूर्ण-स्वरूप से तादात्म्य प्राप्त कर ले। मनुष्य की अन्तरात्मा की यही इच्छा उसे सदाचार अर्थात् निस्वार्थ लोक-सेवा की ओर प्रवृत्त करती है। बीसवीं सदी के अद्वितीय दार्शनिक प्रोफेसर ह्वाइटहैड इसी को प्रत्येक प्राणी का अन्तरुद्देश (Subjective aim) कहते हैं। उनका कहना है कि यह हर भूत मे व्याप्त है। यही उनकी वह अन्तःस्फूर्ति है, जो उन्हें विकास की ओर प्रेरित करती है। यही उनका व्यक्तित्व है। यही उनका उद्देश है और यही उनका स्वाभाविक अन्तर्विधान। प्रोफेसर एलैक्ज़ण्डर ने प्रगति-पोषक शक्तियों को देवता कहा है। गीता के सोलहवें अध्याय के दैवासुर सम्पत् का विभाग-योग वास्तव में प्रगति-पोषक और प्रतिक्रिया-प्रतिपादक शक्तियों का वर्गीकरण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगति-प्रवाह की प्रयोगशाला में गीता के निष्काम कर्मयोग का प्रयोग अथवा गीतोक्त धर्म का प्रयोग यही है कि प्रगति के प्रवाह को परिपुष्ट किया जाय, उसकी सहायता की जाय, उसमें हाथ बटाया जाय, प्रगति-प्रवाह की बहती गङ्गा में हाथ पखारा जाय। अर्थात् प्रगति-धर्म ही गीता का स्वधर्म है। इस धर्म के प्रतिकूल जितने काम हों वे पाप अर्थात् जो काम प्रगति-पोषक हों, वे ही कर्त्तव्य हैं, जो प्रगति-प्रतिकूल तथा प्रतिक्रिया-प्रतिपादक हों, वे ही अकर्त्तव्य।

विश्व के विकास की प्रगति का प्रवाह इस समय मानव समाज के विकास की राष्ट्रीय अवस्था में अर्थात् अपने पूर्ण विकास की अन्तिम सीढ़ी से नीचे वाली श्रेणी में है। राष्ट्रीयता का यह भाव बृहदात्मा का भाव है। वह मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की बहुत ऊंची श्रेणी है और उससे महान् आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्त्ति होती है। विशुद्ध

राष्ट्रीयता का यह भाव, भौगोलिक सीमाओं, ऐतिहासिक विकास और सामान्य संस्कृति पर आधारित, सहिष्णु, उदार तथा लोकतंत्रीय है। वह समस्त संसार के सघीय संगठन तथा सबकी समता-स्वतन्त्रता पर निर्भर, सबके सहयोग मे विश्वास करता है। वह मौलिक मानवीय अधिकारों और मानव-समता के शुद्ध सिद्धान्तों को मानता है। वह व्यर्थ युद्ध और सतत सघर्ष तथा पशु-बल दिग्विजयादि में जीवन का उद्देश अथवा उसका परम धर्म नहीं मानता। निस्सन्देह राष्ट्रीयता से अंत-राष्ट्रीयता- वसुधैव कुटुम्बकम्-एक-संसार, संसार--सङ्घादि की कल्पनाएं उच्चतर कल्पनाए हैं परन्तु समस्त मानव-समाज का अब तक का इतिहास इस बात का गवाह है कि अभी ये भावनाएं कल्पना-जगत् की भावनाए प्रगति के वर्तमान प्रवाह से आगे को भावनाएं हैं। संसार के और सब राष्ट्र तो खुलम-खुल्ला राष्ट्रीयतावादी हैं ही, इतने अधिक राष्ट्रीयतावादी कि राष्ट्र-सघ में भी वे अपने इस स्वरूप को क्षण-भर के लिए भी नहीं भूल सके, परन्तु जो मार्क्सवादी अन्तर्राष्ट्रीयता के सबसे बड़े हामी थे, जिनका यह एलान था कि मजदूरों का कोई देश अथवा राष्ट्र नहीं वे आज राष्ट्रीयता-वाद की प्रतिमूर्त्ति बने हुए हैं। स्वयं लेनिन को यह बात स्वीकार करनी पड़ी है कि पिछले महायुद्ध में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय लगभग सभी सदस्यों ने अपने-अपने देश की सरकारों का पूर्ण रूप से साथ दिया। उन्होंने यह बात भी मानी है कि सवहाराशाही के बाद भी राष्ट्रीय भेद-भाव बहुत दिनों तक रहेंगे। पराधीन राष्ट्रों मे तो राष्ट्रीय स्वाधीनता का सग्राम क्रान्तिकारी माना गया है और कम्युनिस्टों को यह आदेश है कि वे अपने-अपने देश में ऐसे स्वाधीनता-सग्रामों में पूर्ण सहयोग दें। रूस के सम्बन्ध में लेनिन ने यह एलान किया कि वह सात नवम्बर १६१७ से देश-भक्त है। एक देश में समाजवाद राष्ट्रीयता-वाद ही है। आज सोवियत् राष्ट्रीयता-वाद खुले रूप में स्पष्ट समस्त संसार के सामने है। आज मौरिस हिन्दस "मदर रूस" नाम की पुस्तक लिखते हैं। आज स्तालिन यह एलान करते

हैं कि हम पितृ-भूमि की रक्षा कर रहे हैं। नौ नवम्बर १६३६ में "प्रवदा" के सम्पादकीय लेख में पितृ-भूमि की रक्षा का नारा सर्वोच्च नारा बताया गया और वहां की मार्क्सवादी सरकार अपनी समस्त शक्ति से रूसियों में सोवियत् देश-प्रेम की भावना को पुष्ट करती है।

विशेषकर भारत के लिए तो यह अवस्था पूर्णतया प्रगति के विकास की वर्त्तमान सर्वोच्च अवस्था राष्ट्रीय अवस्था है; क्योंकि जिस भारत को पराधीनता के कारण इस मंजिल विकास की इस अवस्था को स्वतंत्रता पूर्वक विकसित करने का अवसर ही नहीं मिला, वह प्रगति--प्रवाह के समस्त नियमों का उल्लंघन करके वसुधैव-कुटुम्बकम् की अवस्था में किसी अप्राकृतिक ढंग से कैसे कूद सकता है?

प्रगति-प्रवाह के इसी गत्यवरोध से भारतीय समाज-शरीर में जातिभेद, सम्प्रदाय-भेद आदि कुप्रथादि रोगों के कीटाणु घर करके पले और बढ़ रहे हैं। जब तक भारत की राष्ट्रीयता पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती, तब तक उसका समाज-शरीर स्वस्थ नहीं हो सकता। यूरोप का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वहां राष्ट्रीयता और राष्ट्र-भक्ति के भाव का पूर्ण उदय उन्नीसवीं सदी में हुआ और उस समय भारत अंग्रेजों के पंजे में था। उससे पहले यूरोप में भी धार्मिक भाव प्रधान था।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रचारक भारत की इस राष्ट्रीयता पर तरह-तरह के आक्षेप करते हैं। एमरी और चर्चिल ने इस झूठ का प्रचार करने के लिए कि भारत एक राष्ट्र नहीं है, अपनी समस्त बुद्धि का पूर्णरूपेण व्यभिचार किया है। अतः पहले राष्ट्रीयता क्या है, यह बताकर इन आक्षेपों का निराकरण आवश्यक प्रतीत होता है। राष्ट्रीयता सम्बन्धी भावना का सबसे अधिक विकास उन्नीसवीं सदी में यूरोप हुआ, अतः इस विषय में उन्हीं विचारों को देखना होगा। इनमें से पहले कुछ लोग यह समझते थे कि राष्ट्रीयता जाति और भाषा पर निर्भर एक जातीय इकाई है। वह उन लोगों का समूह है जो मन तथा रक्त के सूत्र

में बंधे हुए हैं। स्लैवों और जर्मनों की राष्ट्रीयता का आधार भाषा सम्बन्धी था। परन्तु पीछे लोगों को अपनी भूल मालूम हुई और वे भौगोलिक तथा प्राकृतिक सीमाओं और आर्थिक स्वयंपर्याप्तता को राष्ट्रीयता का मुख्य अङ्ग मानने लगे। परन्तु अब बीसवीं सदी में राष्ट्रीयता की परिभाषा ही बदल गई है। गमल्पावीज नामक जर्मन लेखक ने तथा ऐक्टन ने 'राष्ट्रीयता पर निबन्ध' नामक पुस्तक में और ए० ई० जिमनर्व ने 'राष्ट्रीयता क्रिया और सरकार' नामक पुस्तक में यह प्रतिपादित किया है कि धर्म की तरह राष्ट्रीयता का भी एक-मात्र आधार मन अथवा आत्मा पर निर्भर (Subjective) है वह मन की एक अवस्था तथा विचार व अनुभूति का एक मार्ग है। उन्होंने दिखाया कि स्विटजरलैण्ड तथा संयुक्त प्रदेश अमेरिकादि जिन राष्ट्रों में जाति-भाषादि भेद सर्वाधिक हैं, वे ही सबसे अधिक स्वतंत्र हैं। रेमण्ड जी० गैटिल ने अपनी "राजनैतिक विचारों का इतिहास" नामक प्रामाणिक पुस्तक के चार सौ सत्ताइसवें पृष्ठ पर लिखा है कि इतिहास के अध्ययन, मानव-समाज के विकास-सिद्धांत तथा अर्वाचीन मनोविज्ञान से प्रभावित होकर अर्वाचीन राजनीति-आचार्य जाति भाषादि के प्रभाव पर कम ध्यान देते हैं। वे आध्यात्मिक और उस क्रमगत विकास को राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार मानते हैं, जो सामान्य अनुभव परम्परा, राजनैतिक एकता और देश-भक्ति के भाव का परिणाम है। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार राष्ट्रीयता के लिए केवल एक व्यापक भाव 'हम" मन के आन्तरिक अनुभव का भाव चाहिए। जाति अपनी संस्कृति के उच्च रूप में राष्ट्र होती है। राष्ट्रीयता वह भाव होता है जिसके लिए सहस्रशः सहर्ष बलि होने को तत्पर रहते हैं। निस्सदेह अपने इस श्रेष्ठ स्वरूप में वह हर श्रेष्ठ चीज की तरह थोड़े-से बलिदानी वीर देशभक्तों की सम्पत्ति होती है, परन्तु समय आने पर जब राष्ट्र का आह्वान होता है, तब कोटि-कोटि जन-समूह इन थोड़ों का अनुगमन करता है। इस दृष्टि से भारत पूर्णतया एक राष्ट्र है।

भारत की यह राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं; बल्कि सच बात यह है कि इस समय संसार में भारत की राष्ट्रीयता ही एक ऐसी राष्ट्रीयता है जो मानव-समाज को अन्तर्राष्ट्रीयता तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की ओर ले जा सकती है। स्पैंगर ओस्वाल्ड ने "पश्चिम का ह्रास" नामक अद्वितीय विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में पूर्णतया यह प्रमाणित कर दिया है कि पश्चिम का स्वभाव पश्चिम के साम्यवादादि के स्वभाव भी आक्रामक, बलपूर्वक दूसरों को अपना मत मनवाने का, फैलाव का स्वभाव है, जब कि भारत का इतिहास यह बताता है कि भारत का धर्म समन्वयात्मक है। वह अपने मत का प्रचार पशु-बल द्वारा नहीं, आत्म-बल द्वारा करना चाहता है। एच० जी० वेल्स के शब्दों में मानव जाति के इतिहास में भारतीय सम्राट् अशोक ही एक ऐसा सम्राट् हुआ है, जिसने केवल सेवा, प्रचार तथा संगठन के साधनों से मानव जाति के उत्थान का कार्य किया और उसमें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। चीन, जापानादि में आज भी बौद्ध-धर्म उस सफलता का चमकता हुआ स्मारक है।

स्पैंगर ओस्वाल्ड के शब्दों में बौद्ध या भागवत भारतीय संस्कृति ही "यथेच्छसि तथा कुरु" की स्वतंत्रता दे सकती है। पश्चिम का तो साम्यवाद भी बल प्रयोग द्वारा "मामनुस्वर" का आदेश देता है। वहां विचारों की अथवा अन्तःकरण की स्वतंत्रता संभव ही नहीं। बर्ट्रेण्ड-रसल ने "शक्ति" नामक पुस्तक में प्रचार समझाने की शक्ति के बल पर पशु-बल को नियन्त्रित करने की जिस आवश्यकता को प्रतिपादित किया है, उसे भारत की राष्ट्रीयता ही पूरा कर सकती है। जो अत्याचारी सरकारें या शक्तियां बाघों से भी अधिक खूंख्वार हैं, उन्हें पालतू बनाने की सामर्थ्य भारतीय राष्ट्रीयता के आत्म-बल में ही है। भारतीयों के विरोधी ब्रिटिश साम्राज्य के स्तम्भ जनरल स्मट्स तक इस बात के साक्षी हैं कि महात्मा गांधी की राष्ट्रीयता मूलतः विश्व-मानवता का सोपान है।

आज भी भारत की राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने अपने आठ अगस्त

सन् १६४२ वाले प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत स्वतन्त्र राष्ट्रों के संसार-संघ में सहर्ष सम्मिलित होने और उसकी स्थापना तथा प्रगति में पूर्ण सहयोग देने को तैयार है। इस प्रकार भारत की राष्ट्रीयता न केवल भगवान् की विराट-विश्व-मूर्ति का अब तक का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप ही है, बल्कि उस विकास की प्रक्रिया को पूर्णता की ओर, वसुधैव कुटुम्बकम् की ओर ले जाने का सर्वोत्तम साधन भी वही है। मानवी स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र, स्थायी शान्ति और संसार-संघ की कुंजी भारतीय राष्ट्र की स्वाधीनता में ही है। भारत की राष्ट्रीयता में ही अंतर्राष्ट्रीयता सन्निहित है। महात्मा गांधी और कांग्रेस की अन्तर्राष्ट्रीयता से बढ़कर तो क्या, उसकी बराबरी की अन्तर्राष्ट्रीयता आज भी संसार में और कहीं नहीं है, क्योंकि शायद चीन को छोड़कर बाकी सब जगह की अन्तर्राष्ट्रीयता भी आक्रामक और पशु-बल प्रेरित अन्तर्राष्ट्रीयता है। उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है। पाश्चात्य राष्ट्रीयता राष्ट्रीय पार्थक्य और द्वेष-भावों को बढ़ाने वाली प्रगति-प्रवाह विरोधी राष्ट्रीयता है। भारत की राष्ट्रीयता प्रगति-प्रवाह प्रवर्द्धक है। एच० जी० वेल्स ने "विश्व इतिहास की रूप-रेखा" में ३५४ वें पृष्ठ पर यह लिखा है कि भारत का बौद्धिक जीवन अलग, उसकी अपनी सभ्यता और संस्कृति पृथक् अपने ढंग की अपने मूल पर स्थित है।

इस दृष्टि में प्रगति-प्रवाहानुसार राष्ट्र-धर्म ही गीतोक्त धर्म है। राष्ट्र-धर्म ही वह स्वधर्म है, जिसके विषय में भगवान् कृष्ण ने दूसरे अध्याय के पैंतीसवें श्लोक में यह कहा है कि पर-धर्म के पीछे दौड़ने से स्वधर्म विगुण भी हो; तब भी श्रेयस्कर है। ऐसे स्वधर्म के लिए अपने प्राण दे देना भी श्रेयस्कर है जबकि परधर्म के पीछे दौड़ना भयावह है। सामूहिक नारायण के सर्वोच्च स्वरूप राष्ट्र स्वरूप की आत्मानुभूति ही ज्ञानयोग है। राष्ट्र की अनन्य और निर्हेतुक भक्ति ही भक्ति-मार्ग और सर्वस्व समर्पण भाव से उसकी सेवा ही निष्काम कर्मयोग है। राष्ट्र की सेवा में यथाधिकार नियत कर्म करना ही वे स्वभाव नियत कर्म है, जिनके विषय में

अठारहवें अध्याय के सैंतालीसवें श्लोक मे यह कहा गया है कि स्वभाव-नियत कर्म करते हुए किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। इसके अर्थ यही हैं कि विश्व के विकास की वर्त्तमानावस्था मे अन्तर्राष्ट्रीयता रूपी पर-धर्म को मृग-मरीचिका में न पड़कर वसुधैव कुटुम्बकम् तक स्वयं पहुंचने और संसार को उसी प्रगति-पथ का पथिक बनाने के लिए भारत की राष्ट्रीयता की सेवा मे ही जुटना चाहिए। ऐसा सहज कर्म पूर्णदर्शी की दृष्टि से सदोष भी प्रतीत हो, तब भी उसे नही छोड़ना चाहिए, क्योंकि जैसे आरम्भ में उज्ज्वल आग धुएं से आवृत होती है, वैसे ही सब कार्य शुरू में सदोष मालूम होते हैं। राष्ट्र-कर्म ही वह स्वकर्म है, जिसमें निरत रहकर हम सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार के स्व-धर्म की बाबत अठारहवें अध्याय के साठवे-इकसठवे श्लोको में यह कहा गया है कि अपने स्वभावज कर्म में सब लोग इस तरह बंधे हुए हैं कि यदि मोहवश वे न भी करना चाहें, तब भी उन्हें वे कर्म करने ही पड़ते हैं। ईश्वर सब प्राणियों के हृद्देश मे बैठा हुआ उन्हे यन्त्रारूढ़ की तरह घुमाया करता है। व्हाइटहैड के शब्दों मे प्राणी-मात्र मे कूटस्थ वही आत्मा-परमात्मा उसे प्रगति-प्रवाहानुकूल कर्म करने के लिए प्रेरित करता रहता है। भारत की इसी अन्तरात्मा की पुकार है—'एक राष्ट्र-भाषा हिन्दी हो, एक राष्ट्र हो भारत माता।"

भारतीय राष्ट्र को विस्तार की-साम्राज्य की—तनिक भी आवश्यकता नहीं। जिस युग मे डाक्टर विल्कौक्स "राष्ट्र अपने घर रह सकते हैं" (Nations can live at home) यह सिद्ध कर रहे हो, उसमे अपनी सभी मौलिक आवश्यकताओं में सर्वथा स्वयं पर्याप्त भारत की राष्ट्रीयता के आक्रामक होने का भय हो ही नही सकता।

गीता के आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्तानुसार ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद के अनुसार भी आज भारत के सामने सर्वोपरि प्रश्न उसकी स्वाधीनता का प्रश्न है। जगत्प्रसिद्ध विद्वान् चीनी लेखक और वक्ता डाक्टर लिन यु टाग के उन शब्दों में, जो उन्होने १९१४ के अप्रैल में

कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित एक सभा में प्रकट किये थे—
"इस समय भारत में एक ही धर्म हो सकता है, वह धर्म स्वाधीनता का
धर्म है। इस धर्म के प्रति अपने ध्यान को हटाकर साड़ी के सौंदर्य की
ही नहीं, रेल, सार्वजनिक स्वच्छता, स्थूल बैलों की स्थापन आदि की
बातें करना भी अधर्म है।"

इस प्रकार इस सर्वसम्मत स्वधर्म में ही तन-मन-धन से जुटना
प्रत्येक भारतीय का गीतोक्त धर्म है। यही सगुण परमेश्वर की भक्ति
तथा उपासना का वह सर्व-साधारण-सुलभ साधन है, सांख्य, वेदान्त
और बौद्ध-धर्म तीनों में जिसका अभाव होने का कारण उनके विरुद्ध
भागवतों ने सरकार की भक्ति और उपासना का सफल विद्रोह खड़ा
किया था। यही वह भक्ति-मार्ग है जिसकी बाबत एल्डस हक्सले ने
अपनी "साध्य-साधन" नामक पुस्तक के दो सौ सैतीसवें पृष्ठ पर यह
लिखा है कि उसके द्वारा भक्तों को, स्वयं अपने को और अपने आस-
पास के संसार का प्रगति प्रवाह की ओर प्रवर्त्तित करने की अधिक शक्ति
प्राप्त होती है। यही वह मानव-मन की उपासना की भूख है, जो
भौतिकवादी यूरोप और रूस तथा उनके भौतिकवाद के अनुयायियों के
सर्व साधारण में आज तक अणु-मात्र भी नहीं घट सकी। जापान का तो
शिक्षित और शासक वर्ग भी भक्ति-मार्गी है। The tale of Ganji
नामक पुस्तक में इस बात को प्रबल प्रमाणों के साथ दिखलाया गया है।
यही वह प्रवर्त्तित चक्र है, जिसके विषय में गीता के सोलहवें श्लोक में
यह कहा गया है कि जो उसके अनुसार नहीं चलता, वह पापी (अघायु)
व्यर्थ ही जीता है। इस स्वाधीनता-संग्राम में ही अपने प्राणों की आहुति
देकर हम विश्व की प्रेमाग्नि प्रज्वलित कर सकते हैं।

आज राष्ट्रीय-महायज्ञ, स्वाधीनता-संग्राम में ही हम वैय-
क्तिक स्वार्थ, परिवार-गत स्वार्थ, जाति-गत स्वार्थ और सम्प्रदाय-गत
स्वार्थों की "इदं राष्ट्रं इदं न मम्" कहकर आहुति देते हुए उल्लास
के साथ, स्वाहा—"ओहो- आहा" कह सकते हैं, और आवश्यकता पड़ने

पर अपने तन-मन-धन की बलि देकर "सर्वस्वं स्वाहा" की पूर्णाहुति दे सकते हैं। इस राष्ट्रीय महायज्ञ में ही तन-मन-धन से अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए जो कुछ बचे, जो कुछ पास हो उसी पर सन्तोष करके लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी की भांति अमृताशी हो सकते हैं। इस अन्न का भोग सब यज्ञों के भोक्ता विश्वतोमुख परमात्मा को ही पहुंचेगा। राष्ट्र-देवता के अतिरिक्त किसी दूसरे की पूजा कामनाओं से हतज्ञान होने के कारण की जाने वाली दूसरे देवताओं की पूजा हो जायगी, जो अल्प-बुद्धियों का काम है और जिसका फल "अन्तवन्त" है। बलिदान की जो भावना मकड़ी द्वारा मकड़े के खाये जाने पर ही उसे गर्भवती करती है, जिससे प्रेरित होकर वह उन अंडी-बच्चों के लिए भोजन एकत्रत करती है, जिन्हें वह कभी देख ही नहीं पाते। बृहदात्मा के लिए वैयक्तिक आत्मा के बलिदान के इसी भाव से भारत के राष्ट्रीय कर्म-वीरों को दीक्षित होना होगा।

आज के भारत में जातीय तथा साम्प्रदायिक भाव प्रगति प्रतिकूल और प्रतिक्रिया प्रतिपादक हैं। गीता के सोलहवें अध्याय के पांचवें श्लोक की भाषा में जातीय तथा साम्प्रदायिक भाव "निबन्धायासुरी" के भाव हैं, जो आसुर होने के साथ-साथ पराधीनता बन्धन को बढ़ाने वाले भी हैं। इसी तरह भारत के स्वाधीनता-संग्राम में बाधा पहुंचाने वाले अन्तर्राष्ट्रीयता के नारे भयावह पर-धर्म है, जो राष्ट्रीय शक्ति को विभक्त करके निर्बल करते हैं। राष्ट्रीय महासभा ही प्रगति-पोषक और "विमोक्षाय" अर्थात् पराधीनता-पाश से मोक्ष दिलाने वाली दैवी सम्पत् है। इसीलिए राष्ट्रीय भवानी मानवता महादेव की परम प्रिय पत्नी जहां उमा-गौरी के रूप में राष्ट्रीयता की भावनाओं और राष्ट्रीय शक्तियों की रक्षा तथा उनका पालन-पोषण करती है, वहीं दुर्गा काली के रूप में जाति-गत तथा साम्प्रदायिक भावों को विनष्ट करती है।

भारत की और मानव-समाज के विकास की वर्त्तमान अवस्था में कम्युनिज्म और कम्युनैलिज्म दोनों ही प्रगति-प्रतिकूल तथा प्रतिक्रिया-

पोपिका हैं। एक राष्ट्र-जाह्नवी की जीवन-धारा को पीछे की ओर घसीटती है, दूसरी अति आगे की ओर। भारत में गीतोक्त धर्म की तरह इस्लाम में भी दया, दैनिक जीवन में दूसरों का ध्यान, अद्वैत, उदारता भ्रातृ-भावादि तत्वों का प्राधान्य है। अतः इनके समुच्चय की जो प्रक्रिया उस महान अकबर के समय शिखर पर पहुंच रही थी, जिसकी बाबत इतिहासकार एच० जी० वेल्स को यह लिखना पड़ा कि भारत के लिए जितना अकबर ने किया, उतना किसी ने नहीं किया, उसे फिर से प्रवाहित करना होगा। दारा शिकोह दोनों की संस्कृति के ग्रंथों को दोनों के लिए सुलभ करने की जो बात सोच रहा था, उसे पूरा करना होगा। आज हमें एच० जी० वेल्स को फिर दिखाना होगा कि अन्धे हमारी संस्कृति आज भी समुच्चयात्मक है, अतः तुम्हारे ही माप-दण्ड से सर्वथा आदरणीय है। महमूद गजनी के समय से ही हिन्दू-मुस्लिम-मेल की जो धारा बह उठी थी—उसके हिन्दू सेनापति तिलक ने ही उसके लिए मध्य एशिया को विजय किया था, उसे फिर वेगवती बनाना होगा। जो हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति शिल्प, चित्र, धर्म, भाषा, साहित्य, सामाजिक रीति-रिवाज सब में हिल-मिल गई थी, जिसके अनुसार हुसैनी ब्राह्मणों का जन्म हुआ था और नर पिता माल्वादि जातियां अल्लाह और गणेश दोनों की पूजा करते थे और जो "ब्रिटिश भारत" में फ्रेजर के कथनानुसार ब्रिटिश राज कायम होने पर रुकी, उसके कार्य को पूरा करना होगा। भारत में आज कम्युनिज्म वह अति वामपन है, जिसकी निन्दा स्वयं लेनिन ने "अति वामपन बौद्धिक बचपन की बीमारी" नामक पुस्तक लिखकर की थी। कम्युनिज्म और कम्युनैलिज्म दोनों ही प्रगति-विरोधी होने के कारण हमें यहां मुस्लिम लीगियों और मार्क्सवादियों में गठबन्धन देखने को मिला। विश्व-विकास की प्रगति के प्रवाह की पूर्ति भारत की स्वाधीनता से ही होगी। भारत की स्वाधीनता से ही साम्राज्यवाद का विनाश और संसार-संघ की स्थापना हो सकेगी।

भारतीय संस्कृति सदैव सहयोग-धर्ममय रही है। भारत का जन्म

ही समुच्चयात्मक है। प्रकृति रूपी शकुन्तला से पुरुष रूपी दुष्यन्त के संयोग से ही भरत का जन्म हुआ और भरत से ही भारत। अपने इसी स्वधर्म के बल से भारत अपनी राष्ट्रीयता सम्बन्धी समस्त समस्याओं को हल कर सकता है। उसे जैन, बौद्ध, पारसी, सिख, मुस्लिम, ईसाई, किसी को भी पूर्ण सास्कृतिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता देने मे तथा उनकी तत्सम्बन्धी स्वाधीनता की रक्षा की पूर्णतम गारण्टी देने में कभी भी कोई आपत्ति नहीं होगी। हा, वह पाकिस्तान-जैसी प्रगति-विरोधी मागों को नहीं स्वीकार करेगी, क्योंकि वह व्यवहार में असम्भव तथा स्वयं मुसलमानों के लिए हानिकर होने के साथ-साथ प्रगति-प्रवाह-प्रतिकूल तथा राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय शक्ति को सदा के लिए छिन्न-भिन्न करने वाली माग है। वह न तो आर्थिक स्वाधीनता की कसौटी पर ही ठीक उतरती है, न भाषा, भूगोल, जाति आदि कसौटी के अनुकूल जब कि भारतीय राष्ट्र, भूगोल, राजनीतिक एकता, आर्थिक स्वाधीनता, सास्कृतिक सगम आदि राष्ट्रीयता की अधिक से अधिक शर्तों को पूरा करता है। पाकिस्तान यदि सूबों के आधार पर बने, तो करोड़ों मुसलमान हिन्दुस्तान मे रहेंगे और कुल पाकिस्तान की आबादी में चालीस फीसदी हिन्दू रहेंगे। यानी हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी।

आधुनिक जीव-विज्ञान के जिस तत्त्व को पारस्परिक सहयोग के तत्त्व को प्रिंस क्रोपाटकिन ने अपनी "पारस्परिक सहायता" नामक प्रचुर प्राकृतिक प्रमाण परिपूर्ण पुस्तक में प्रतिपादित किया है, उसे भारतीय संस्कृति सदैव मानती आई है। इस संस्कृति को स्वाधीन भारत में दूसरे सम्प्रदायों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने में तनिक भी कठिनाई नहीं पड़ेगी। क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि भारतीय संस्कृति अथवा गीतोक्त धर्म की प्रगति मूलतः पृथक्ता से एकता की ओर है। इसके प्रमाण में सभी को यह मालूम है कि सब शास्त्रों में साख्य-शास्त्र इसलिए सर्वोत्तम माना जाता है कि जहा गौतम के न्याय में चौंतीस, वैशेषिक में सात और पातञ्जलि योग में तीन मूल तत्त्व माने गए, वहां साख्य मे केवल दो ही। इन सब

शास्त्रों की मान्यता उनकी तत्त्व संख्या पर ही रही। जिनमें सबसे अधिक
मूल तत्त्व माने गए, वे सबसे कम मान्य हुए और इसी क्रम से वेदान्त को
ज्ञान की पराकाष्ठा इसीलिए कहा गया कि उसमें सांख्य से भी आगे बढ़
कर केवल एक ही मूल तत्त्व—सनातन सत्य—आत्मा-परमात्मा को माना है।

भारत के राष्ट्रवादी यह नहीं भूल सकते कि वे ही राष्ट्र जीवित रहते
हैं, जिनके व्यक्ति सामूहिक भाव से अधिक सुगठित हों। इसी संगठन-बल
से पश्चिम और उत्तर में कम सभ्य जातियों ने रोम और यूनान के
साम्राज्यों को नष्ट कर दिया था। हमें यह याद रखना होगा कि बिना
सङ्गठन-शक्ति के किसी प्रकार का धर्म भी सम्भव नहीं। इसी अर्थ में
यह कहा जाता है कि गुलामों का कोई धर्म नहीं। धर्म के लिए दण्ड-
शक्ति, राजनीतिक शक्ति का होना अनिवार्यतः आवश्यक है। काण्ट, हेगल
प्रभृति का यह कहना सर्वथा सत्य है कि समाज पूर्ण देह है, अतः वह अपने
अंग-प्रत्यंगों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। पारस्परिक सहयोग से ही जीवन
का विकास होता है, पारस्परिक अनुकूलता से ही आत्म-पूर्ति होती है।
परस्पर प्रेम, स्नेह, सहयोग, सहानुभूति के आदान-प्रदान से ही उन्नति
और विजय सम्भव है। लोकतन्त्रजन्य दलबन्दी से भी हम राष्ट्रीय
एकता को भंग नहीं होने दे सकते। राष्ट्रीय संगठन में हमें अनुशासन
की दीक्षा लेनी होगी, अपनी वैयक्तिक स्वाधीनता की भी आहुति देनी
होगी। एडलर जैसे मनोविज्ञानाचार्य "परस्पर-भावयन्तः" के इस तत्त्व का
राष्ट्र, संगठन, तथा नेता की विजय में ही अपनी विजय समझने, उनके
गौरव को ही अपना गौरव समझने की सर्वथा समुचित और स्वाभाविक
मानवी प्रेरणा का समर्थन करते हैं। हमें यह सीखना ही होगा कि नेता
या देवता हर एक नहीं हो सकता, परन्तु अच्छा अनुयायी होना हर एक
के हाथ में है। राष्ट्र-धर्म में हमें अटूट श्रद्धा और राष्ट्र-नेताओं में अडिग
विश्वास भी रखना होगा। इस्लाम और क्रामवेल के आइरन साउड हमें
विश्वास-बल उत्पन्न करके विजय का ध्यान दिलाते रहते हैं। राष्ट्रीय कर्म-
वीरों के लिए श्रद्धा की कमी, उदासीनता अथवा आराम-तलबी मृत्यु का

निमन्त्रण है। स्वामी राम के शब्दों मे जो समूह एक मन, एक हृदय हो, तथा जिनके हाथ प्रेमयुक्त सेवा मे एक साथ रहे, वे संख्या में थोड़े होने पर भी विजयी होते हैं।

भारतीय संस्कृति की यही प्रवृत्ति न केवल भारतीय सम्प्रदाय तथा धार्मिक भेद-भावों का समन्वय करने मे सफल होगी बल्कि वह संसार के समस्त राष्ट्रो को भी एकता की ओर प्रेरित करेगी। भारत के राष्ट्रीयता के प्रधान भाग, अन्य सबको मिलाकर सबसे बड़े भाग होने के कारण अन्य समस्त सम्प्रदायो का सद्भाव और सहयोग प्राप्त करके उसी के आधार पर उन सबका एकीकरण करने का उत्तरदायित्व हिन्दुओं पर पड़ेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दुओं के प्रचलित "धर्मों" के जड़ तथा सड़े-गले नाम रूपो को छोड़कर व्यावहारिक वेदान्त अर्थात गीता के सनातन-सजीवन धर्मानुसार चलना होगा। उदाहरणार्थ, उन्हे जाति उपजातियों तथा इनकी शाखा-प्रशाखाओं में रोटी-बेटी भेंट रूपी तथा इनको जन्मना मानने की भूल रूपी वर्णाश्रम के मृत तथा त्यक्त शरीर को छोड़कर उनके अन्तर्तत्वों के अनुसार तत्सम्बन्धी कर्म-काण्ड को बदलकर उसे ग्रहण करना होगा। और उसके अन्तर्तत्वानुसार ससार का कोई भी देश, किसी भी युग मे वर्णाश्रम व्यवस्था को नही छोड़ सकता। वास्तव में वर्ण-विभाग सामाजिक श्रम-विभाग है उसमें समाज के समस्त कामों को शिक्षा, रक्षा, व्यवसाय और सेवा (परिचर्या) इन चार भागो मे बांटा गया है-और वर्गीकरण की दृष्टि से वह सर्वथा मान्य और अकाट्य है; और आश्रम विभाग वैयक्तिक जीवन-विभाग। जिन तत्त्वों के आधार पर ये विभाग किये गए हैं, वे सनातन सत्य हैं। उनकी सत्यता को प्लैटो, काम्टे और ड्यूसन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया है। गीता के सामाजिक कर्म-शास्त्र मे समाज मे अपने स्थान के उपयुक्त नियत काम करने का विधान है। इस सामाजिक तत्त्व को गिडिङ्गस आदि अर्वाचीन समाज-शास्त्री भी मानने लगे हैं। वे इस बात का हिसाब लगाने लगे हैं कि मनुष्यों को स्वभाव-विरुद्ध काम करने देने

प्राप्त होती है। यद्यपि उसने यह कहा है कि इस शक्ति का बहुधा दुरुपयोग होता है। उदाहरण के लिए हिटलर का नाम लिया जाता है। परन्तु इस पुस्तक के उद्देश के लिए इतना पर्याप्त है कि विद्यार्थी जीवन यापन करना और जीवन के एक समय तक वीर्य-रक्षा रूपी ब्रह्मचर्य रखना यानी ब्रह्मचर्याश्रम का तत्त्व सभी को मान्य है। गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में तो कोई वाद-विवाद है ही नहीं। पेंशन देने अर्थात वानप्रस्थ की आवश्यकता भी सभी स्वीकार करते हैं और एक अवस्था के बाद फौज मे तथा नौकरियों में लेने से इन्कार करने मे संन्यास की अनिवार्यता स्वीकृत हो जाती है।

योग्यता सम्बन्धी ऊंचाई-नीचाई भी सर्वत्र व्यापी है। अनेक पाश्चात्य विद्वान् मनुष्यो की इस स्वभाव और योग्यता सम्बन्धी भिन्नताओं को न केवल स्वीकार ही करते हैं, बल्कि उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण करने का प्रयत्न भी करते हैं। स्टौकार्ट ने "व्यक्तित्व का शारीरिक आधार" नामक पुस्तक में दो वर्गीकरण किये हैं। डाक्टर विलियम शैल्डन ने तीन, तमोगुणी रजो गुणी और सतोगुणी। वे यह भी मानते हैं कि यह स्वभाव नियत होता है। इस सम्बन्ध में भी मार्क्सवादियों को मनु का समर्थन करना पड़ा है। मनु महाराज ने कहा है कि मनुष्यों मे ब्राह्मण, ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कृतबुद्धि, कृतबुद्धियों में कर्त्ता श्रेष्ठ हैं, इत्यादि। मार्क्सवादी भी यह कहते हैं कि शेष मनुष्यों से मजदूर, मजदूरों से कम्युनिस्ट और कम्युनिस्टों से सिद्धान्त ज्ञानी, सिद्धान्त ज्ञानियों से कर्मवीर कम्युनिस्ट और कर्मवीर कम्युनिस्टों से पार्टीनेता श्रेष्ठ हैं। कम्युनिस्टों की इस क्रमिक श्रेष्ठता की बात स्वयं स्टालिन द्वारा कही गई है, जिसका उल्लेख "रूसी किसान" नामक पुस्तक के स्टालिन-पक्षी लेखक जान मेयार्ड ने दो सौवें पृष्ठ पर किया है। परन्तु यह वर्णाश्रम व्यवस्था जड़-जाति-भेद नहीं है, न उसमें ऊंचाई-नीचाई का भेद-भाव, रोटी-बेटी-सम्बन्ध, छूआछूत सम्बन्धादि के रूप में ही है। गीता के चौथे अध्याय के तेरहवे श्लोक मे यह कहा गया है कि

के प्रयत्न करने पर भी जनता की यह उदासी दूर नहीं हुई। ओस्वाल्ड का कहना है कि सौ बरस बाद के इतिहासकार आधुनिक राजनीति के विवादों को समझ तक नहीं सकेंगे। इन भेद-भावों को विनष्ट करके हम भगवान् की ही इच्छा की पूर्ति करेंगे; अपने सर्वोच्च स्वधर्म-प्रगतिशील और क्रान्तिकारी स्वधर्म—का पालन करेंगे।

आज भारत में ऐसे ब्रह्मचारियों की आवश्यकता है, जो राष्ट्रात्मा का सच्चा ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य द्वारा अनन्त शक्ति संचित करके राष्ट्रीय स्वाधीनता के महान् कार्य को पूरा कर सके। आज प्रत्येक गृहस्थ को भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ानी है। प्रत्येक वानप्रस्थ को स्वराष्ट्र-सेवा में अनन्य-भाव से जुटना है। इन सबके साथ-साथ आज ऐसे सहस्रों संन्यासियों की भी आवश्यकता है, जो भारतीय राष्ट्र की चतुर्मुखी क्रान्ति आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक का भी नेतृत्व ग्रहण करें।

कुछ राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान का भण्डार बढ़ाने में अपना समस्त जीवन बिताकर, कुछ इस ज्ञान-विज्ञान के आधार पर राष्ट्र-रचना की सर्वोत्तम योजना अथवा कार्य-क्रम बनाकर और कुछ उस कार्य-क्रम को कार्य रूप में परिणत करके। ऐसे सहस्रशः क्रान्ति के कर्णधार संन्यासियों की आवश्यकता से कौन इन्कार कर सकता है? एल्डस हक्सले ने अपनी "साध्य और साधन" नामक पुस्तक के उनसठवे पृष्ठ पर ऐसे शुद्ध अनासक्त बुद्धि वाले कर्मयोगियों के प्रयत्नों को ही लोक-कल्याण का एक-मात्र मार्ग बताया है। ये सन्यासी हों, अनिकेतन हों, यह भी आज की अवस्था में आवश्यक है क्योंकि जैसा कि मशहूर अङ्गरेज लेखक डिकिन्स ने अपनी "दो शहरों की कहानी" नामक पुस्तक में लिखा है कि 'स्वाधीनता-सग्राम में सलग्न देशभक्तों का कोई परिवार नहीं होता और जिसके परिवार होता है, वह देश-भक्त नहीं है।" गृहस्थी महान् कार्यों के लिए साधारणतः रुकावट सिद्ध होती है—बेकन के शब्दों में परिवार के पाश में बंधना ज़मानत देना है। आज गीतोक्त सनातन धर्म को ऐसे करोड़ों ब्राह्मणों की आवश्यकता है, जो ज्ञान-विज्ञान में रत रहकर

स्पेंगलर ओस्वाल्डादि विद्वानो का यह युक्तियुक्त कथन सर्वथा अकाट्य है कि राष्ट्रीय भावना (राष्ट्रीयता) ही इन दोनो राक्षसो सम्पत्तिवाद और साम्राज्यवाद के शम्भु-निशम्भुओं का सहार कर सकती है। भारत में राष्ट्रीयता स्वाधीनता-संग्राम से पूंजीपतियों के मुकाबिले मे जन-बल बढ सकता है। मूल्यों का पुनर्मूल्यीकरण हो सकता है। इसी दृष्टि से भी गाधी-मार्ग पूंजीवाद और साम्यवाद का सुन्दर समन्वय है; क्योंकि वह सम्पत्तिवाद के समस्त दोषों को दूर करके, पूंजीवादी प्रणाली को ही दूर रखकर, राष्ट्रीय सम्पत्ति को उसके उच्चतम शिखर तक बढ़ाने का तथा साथ-ही-साथ उसके वितरण साम्य के सिद्धान्त का पक्षपाती है। वह प्रसिद्ध अँग्रेज अर्थशास्त्री ए. सी. पीगू के "लोक-हित का अर्थ-शास्त्र" नामक पुस्तक के चारो पहलुओं पर ध्यान रखता है। अर्थात् इस बात का भी कि वह सम्पत्ति उपार्जित कैसे होती है, उसका आकार कितना है, उसका बंटवारा किस प्रकार होता है, तथा बंटवारे के बाद उसका उपयोग किस प्रकार किया जाता है। राष्ट्र-रचना-कार्य मे साधारणत: जो काम या बातें एकता बढाने वाले हों, वे अच्छे और जो भेद-भाव बढ़ाने वाले हो वे बुरे हैं।

साम्राज्यवाद के सत्यानाशी स्वरूप का वर्णन एच० जी० वेल्स ने अपने "विश्व इतिहास की रूप-रेखा" मे नौ सौ सत्तानवे मे, नौ सौ दसवे पृष्ठ से एक हजारवे तक यह दिखाया है कि साम्राज्यवादी शासन "The gang in possession" लुटेरों का कब्जा-मात्र होता है। यो तो ब्रिटेन भी राष्ट्र नही है, क्योंकि इंग्लैंड में बीसियो मजहब हैं और स्कोच ब्रिटिश राष्ट्रीयता मे विश्वास नहीं करते। नौ सौ बयालीसवे पृष्ठ में उन्होंने यह भी साफ-साफ कहा है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ही समस्त यूरोपीय राष्ट्रों मे साम्राज्यवादी भावना उत्पन्न और प्रचण्ड होती है। अत मे एक हजार एकवें सफे पर उन्होने सयुक्त प्रदेश अमेरिका का उदाहरण देकर यह बताया है कि जब तक वहा अलग-अलग रियासतों के अलग-अलग भावों के सब रियासतो के सयुक्त भाव के अधीन नही किया गया, तब

"अध्ययन" नामक पुस्तक में भली-भाति यह दिखा दिया है कि किस प्रकार केवल आलस्यवश लोग शासन के अन्याय, अत्याचारों को सहते तथा उन्हे प्रोत्साहित करते रहते हैं। जो अन्तर्राष्ट्रीयतादि प्रमादवश राष्ट्रीय स्वाधीनता-सग्राम से अलग रहते हैं वे भी तामसी हैं। क्योंकि एच० जी० वेल्स के शब्दों में जो लोग राजनीतिक संघर्ष से अलग रहते हैं, वे स्वतन्त्रता के स्वर्गीय सुख का उपभोग नहीं कर सकते। इसी तरह जो उसमें तुरत फल पाने की लालसा से, लोभादि से उसमे सम्मिलित होते हैं, वह राजसी हैं। भारत की चौमुखी क्राति के सात्विक-कर्मयोगी वे ही हैं, जो इस बात की आसक्ति छोड़कर ही क्राति-युद्ध मे कूदते हैं कि प्रत्येक संग्राम सफल ही हो जायगा, और जो न इतने अहवादी ही है कि यह समझते हो कि मैं गिरफ्तार हो गया या मारा गया, तो समस्त संग्राम समाप्त हो जायगा। जो तात्कालिक-सफलता-विफलता की भी परवा नहीं करते और न जो ऐसे समय पर, जब समस्त बाह्य परिस्थितिया प्रतिकूल दिखाई देती हों, तथा साम्राज्यवादियो की दर्पोक्तिया और उनकी हिमायत की गयी मुस्लिम लीगादि की वक्रोक्तिया ही सुनने को मिलती हों, तब भी धैर्य और उत्साह को न छोड़ते हो।

गीता के सनातन सञ्जीवन शास्त्रानुसार जीवन वही है, जो उद्योग करे, आगे बढे। विश्व की सृजनकारी शाश्वत प्रेरणा से प्रेरित, प्रवर्तित और अनुप्राणित होता रहे। गीतोक्त धर्मानुसार सबसे अधिक सफल वही है, जो सबसे अधिक खतरा उठावे। ब्लेक के शब्दों मे जो 'एक घंटे में अनन्त' का अनुभव करले। गीता का सृजनकारी विकास ब्रह्म-यज्ञ सम्भूत है। यज्ञ का सही स्वरूप अपने व्यक्तित्व को विश्व के व्यक्तित्व में आत्म-समर्पण कर देना, समष्टि के हित के लिए अपने स्वार्थों की आहुति देना है। गीता के आत्मयोग के मानी हैं जगत और जगदीश्वर के प्रवाह में अपनी समस्त शक्तियों को जोड़ देना, संयुक्त करना।

हेगल के शब्दों में विश्वात्मा का आत्म-विकास ही विश्व और मनुष्य के विकास का इतिहास है। इस प्रगति-प्रवाह के अनुकूल काम

करना प्रत्येक मनुष्य की ऐन्द्रिय-ऐतिहासिक-आवश्यकता है। यही गीता की वह "प्रकृति" है, जिसका निग्रह कुछ नहीं कर सकता, जो ज्ञानवानों को भी उसी के सदृश चेष्टा करने में नियोजित करती है। यही प्रगति-प्रवाह मानव तथा मानव-समाज को यन्त्रवत् घुमाता है। इसमें स्वतंत्रता केवल इतनी है कि या तो हम "नियत" अनिवार्य को करें या कुछ न करें। हम अपने को धोखा दे सकते हैं, परन्तु इस भवितव्य को नहीं। मानवोचित जीवन इसी आत्माकाङ्क्षा की पूर्ति का जीवन है। आत्मा की इसी अपरिहार्य प्रेरणा रूपी अदृश्य सूत्र से हमारा समस्त जीवन नियोजित रहता है। मनुष्य सस्कृति अनुशासित है और सस्कृति अपने युग की सृष्टि होती है।

मनुष्यों का तो कहना ही क्या, उच्च पशु भी दैनिक जीवन के अनुभवों से विकसित होने हैं। बाज यह जानता है कि वह शिकार पर कब झपटे? यह स्वभाव व विशेष शक्ति प्रकृति प्रदत्त ही होती है। समस्त ससार सहज ही किसान, क्षत्रिय, राज-काजी, सेनापति, व्यवसायी, साधु, ज्ञानी आदि को पहचान लेते हैं। नियति या विधाता ही मनुष्य को संकोची या आक्रामक बनाती है। मनुष्य अपनी इसी पूर्व नियति को पूरा करने का प्रयत्न करता है। उसके जीवन की प्रत्येक घटना उसे उसी ओर प्रेरित करती है। नियति की पूर्ति ही आत्म-पूर्ति होती है। इस नियति में राष्ट्र या मातृभूमि का अपरिमित प्रभाव होता है।

जीवन की आवश्यकतायें हमारे सहज मनोधर्मों को नियत करती हैं। उनसे हमारी वासनाएं, वासनाओं से विचार तथा विचारों से कार्य नियत हैं। इसी अर्थ में एक विद्वान् ने कहा है कि न पत्थर स्वतन्त्र है, न दार्शनिक। जन्म सम्भव इस नियत स्वभाव को, मस्तिष्क के गठन विशेष को शिक्षा और दमन भी उन्मूलित नही कर सकते। इसीलिए स्पेंसर का यह कहना है कि जो जीवनोद्देश के अनुकूल है, वही अच्छा है। समाज मे ही व्यक्तित्व की शक्ति का, पुरुष के पुरुषार्थ का विकास होता है। आत्म-पूर्ति का अव्यक्त भाव ही हमारे आनन्द का स्रोत है। हां,

यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वल्प-पूर्ति के फेर में हम वृहत् अपूर्ति न कर डालें। इसी बात को डाक्टर जरकरमैन ने "बन्दरों और लंगूरों का सामाजिक जीवन" नामक पुस्तक में यह कहकर व्यक्त किया है कि सबसे अधिक झगड़ालू-लड़ाकू लोग भी अपना अधिकांश समय पारस्परिक सहयोग और सद्भावना में ही बिताते हैं। सबसे अधिक संगठित समाज में ही सबसे अधिक शक्ति होती है।

नैतिक विकास सदाचार के मानी अपने प्रेम तथा सहानुभूति के क्षेत्र को प्रेमिका, प्यारों और परिवार से बढ़ाकर अखिल विश्व तक ले जाना है। इस दिशा में निरन्तर उद्योग और उन्नति ही महाभारत के कथनानुसार पुरुषार्थ का सर्वस्व है। जीवन में ईश्वर की पूर्ति करना ही पुरुषार्थ है। इसका प्रारम्भ प्राण की पाशविक क्रियाओं से भले ही हो, उसका ध्येय दिव्य जीवन है। सर्वात्मैक्यभाव की उत्तरोत्तर समझ का, आत्मानुभूति का सच्चा मार्ग जगत् रूपी जगदीश्वर की, सगुण राष्ट्रावतार की सेवा करना है। व्यक्ति समष्टि में ही आत्मानुभूति कर सकता है। समष्टि-भाव ही आत्मानुभूति का साधन है। समाज का उद्देश ही यह है कि वह व्यक्ति की शुद्ध-वृद्धि और उसके विश्व-प्रेम का विकास करे।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सी. ई. जुङ्ग का कहना है कि सूत्रात्मा-राष्ट्रात्मा अपने लाखों बरस के संचित अनुभवों को व्यक्ति के अर्द्धचेतन में भर देती है। इस स्वधर्म से मानव-जीवन इतना आबद्ध, इतना गुंथा हुआ होता है कि हमारी बुद्धि और दृष्टि भी इसी स्वभाव के इंगित पर नाचती है।

सच्ची स्वतन्त्रता विश्व और मनुष्य-समाज के विकास के इन नियमों को जानकर प्रगति के प्रवाह को बढ़ाने में, सहायक काम करने में है। शरीर की व्यवस्था ही ऐसी है कि जिसमें प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का चरित्र शेषों के सम्बन्ध से निश्चित होता है। अपने स्वधर्म पर चलकर परिस्थिति अथवा प्रगति-प्रवाह के अनुकूल चलकर ही मानव चूहे-जैसे आकार के प्राणी से विकसित होकर इस अवस्था में पहुंचा है।

इसी के अनुकूल चलकर वह राष्ट्रावस्था से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवस्था तक, नर से नारायण की अवस्था तक पहुँच सकेगा। कार्लाइल के शब्दों मे सच्ची स्वतन्त्रता अपनी योग्यतानुसार सही मार्ग खोजकर उस पर चलने या उस पर चलने के लिये विवश किये जाने में है। ब्रैडले के शब्दों में व्यक्ति जो कुछ है, समाज के कारण ही है। हैगल के शब्दों में सबमें व्यापक राष्ट्रात्मा सबको प्रेरित करता है। उसी की प्रेरणा पर चलना मनुष्य का अंतिम उद्देश्य है। डाक्टर क्रिक की राय में प्रत्येक व्यक्ति अपने राष्ट्रीय इतिहास से आबद्ध है। राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य में अटूट श्रद्धा और उसकी सेवा में मृत्युहीन उत्साह है। आध्यात्मिक जीवन का द्योतक है। फिशे के कथनानुसार श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो अपने को राष्ट्रमय करके राष्ट्रार्थ अपने को उत्सर्ग कर दे। मार्क्स भी समाज के बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नही मानने। यह सभी मानते हैं कि आत्मा का विकास प्रदेश ने सीमित होता है। शिक्षा भी प्रकृति स्वभावानुसार होने पर ही सार्थक होती तथा पूर्णतया सफल होती है।

स्पेंगलर ओस्वाल्ड का कहना है मनुष्य यह या वह करने को स्वतन्त्र नहीं है, वह या तो नियत को करे या कुछ न करे। व्यक्ति अपना कर्त्तव्य न करे, तब भी ऐतिहासिक आवश्यकता तो पूरी होगी ही। हां, कर्त्तव्य-च्युत व्यक्ति उन्नति के बदले पतन के गर्त्त में गिरेगा। उसने स्वधर्म छोड़कर परधर्म के फेर मे पड़ने के दो ज्वलन्त उदाहरण दिये हैं। एक यह है कि सन् १९०१ मे बगदाद शहर ने आक्रमणकारी से अपनी रक्षा करने के स्वधर्म का पालन नहीं किया, फलस्वरूप उसके एक लाख जीवित निवासियों को चिनकर विजय-स्तम्भ बनाया गया। दूसरा यह कि जो अपनी स्वाधीनता के लिए नही लड़ते, उन्हें पराधीन होकर दूसरों की गुलामी के लिए धन-जन नष्ट करना पड़ता है।

संस्था, संगठन, समाज में समता का सिद्धान्त प्रत्येक को उसकी अपनी स्वाभाविक गुण-कर्म जन्य योग्यतानुसार अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अवसर देने में और उसी अपनी स्वभाव नियत योग्यतानुसार

यथाधिकार कर्म करने में है। ऊंचाई-निचाई, भेद-भाव, गुण-कर्म जन्य होते हैं। वर्ण व्यवस्था तक मे यही बात है। उसमें विभिन्न काम करने की हर व्यक्ति मे जो प्राकृतिक शक्ति होती है, उसी विशेष काम मे उसे जुटाकर अपनी सफलता से उसे सुखी करने की योजना है। नीत्से और बर्ट्रेंड रसेल के मतानुसार ब्राह्मण-क्षत्रिय कर्मों की श्रेष्ठता इसी बात मे है कि वे समाज के लिए अपने वैयक्तिक और पारिवारिक सुखों का ही नहीं प्राणों तक का त्याग करने को सदैव तत्पर रहते हैं। वैश्य सर्वत्र वे माने जाते हैं. जो धनोपार्जन और परिवारिक सुखों मे ही रत रहते हैं और स्पेंगलर के कथनानुसार शूद्र-संस्कृति की वे तलछट हैं, जो स्वधर्म के प्रतिकूल पर-धर्मी होते हैं। अपने त्याग-तप से राष्ट्र को ऊंचे उठाने वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय कहलाते हैं। वैश्य किसानादि राष्ट्र की भीतरी सामाजिक व्यवस्था करते हैं। स्पेंगलर के ही कथनानुसार बौद्ध-काल तक भारत में जड़-जाति-भेद न था। वह जाति-भेद तो दूसरे देशों की तरह पतन-काल मे बढ़ा। अपने मौलिक रूप में वह प्रत्येक को अपने स्थानानुसार सुविधा देने की सुन्दर योजना थी।

स्पेंगलर के कथनानुसार मानव का समस्त जीवन ही राजनीतिमय है। हमारी हर क्रिया, हमारे सहज मनोधर्मों की हर माग में राजनीति अभिव्यक्त होती है। हैगल के शब्दों में स्वतन्त्रता प्रगति-प्रवाह के नियमों से स्वतंत्र होने की नहीं, उन्हें मानने के लिए अपने ऊपर संयम करके ऊपर उठने की है। जो ऐतिहासिक विकास सम्मत हो, वही प्रत्येक मनुष्य का स्वधर्म है। एक दूसरे विद्वान् के कथनानुसार हम सब राज-नीति मे भाग लेते हैं, चाहे इस बात को हम मानें या न मानें। हम हर घण्टे राजनैतिक बातें करते हैं, चाहे हम इसे माने या न मानें। धर्म और राजनीति को हिन्दुओं की तरह यूनानी भी शुरू में एक ही मानते थे। पाश्चात्य देश भटककर तीन सौ बरस तक उन्हें एक दूसरे से अलग मानते रहे, परन्तु बीसवीं सदी में वे अब फिर धर्म और राजनीति

बुद्धि उस समय तक बिलकुल बेकार और हानिकर है जब तक अत्या-चारों के प्रति धर्म्य-क्रोध न हो और ऐसे संघर्षों में निस्स्वार्थ सेवा करने का व्रत न हो।

हिन्दू राजनीति-शास्त्र अन्याय और अत्याचार के सक्रिय विरोध का समर्थन करता है। मनुस्मृति, शुक्रनीति और महाभारतादि में अन्यायों का विरोध करने का बार-बार उपदेश दिया गया है। बर्ट्रेण्ड रसल का यह कहना सर्वथा सही है कि अन्यायों-अत्याचारों के प्रति विद्रोह न हो, तो मानव-समाज सड़ जायगा। क्रांतिकारी कर्मयोगी ही सम्पत्तिवाद और साम्राज्यवाद को जब वे अपनी उन्नति के शिखर पर हों, तब उन्हें नष्ट कर सकते हैं।

स्त्रियों का भी स्वधर्म उन्हें इस क्रान्तिकारी स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने का आदेश देता है। आज परदा पाप है। आज का समय कुल-वधुओं और कुल-कन्याओं का समय नहीं है रणचण्डी दुर्गाओं का, राष्ट्र-माता कस्तूरबाओं का समय है। आज भारत की प्रत्येक स्त्री को झांसी की रानी बनना है।

आज पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति विनाश-पथ पर है, अतः हिट-मैन के शब्दों में सब शक्ति के स्रोत भारत के जनता-जनार्दन को, भारतीय स्वाधीनता द्वारा समस्त संसार को गीता की सनातन-सञ्जीवनी-सुधा दान करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक भारतीय देश-भक्त को सर्वस्व स्वाहा के भाव से यथाशक्ति प्रयत्न करना है। अल्डस हक्सले को निमित्त बनाकर आज पाश्चात्य संसार की आत्मा गीता के अनासक्त कर्मयोगियों द्वारा निर्मित "नवीन वीर संसार" के निर्माण की माग कर रही है, प्रगति-प्रवाह की प्रयोगशाला में भारत के गीता के कर्मयोगियों को यह पुकार सुननी और पूरी करनी है।

भारतीय समाज की उत्पत्ति प्रत्येक व्यक्ति को गृहीत सांस्कृतिक सामग्री में प्रदेश व स्थिति विशेष के इन सामाजिक विचारों को पूरा करना ही होगा। अपने इस स्वधर्म से वे बच नहीं सकते। गीता-दर्शन

कोरा शब्द-जाल नहीं, वह व्यावहारिक जीवन को आवश्यकताओं को पूरा करने वाला, विश्वासमूलक आचरण करने, स्वधर्मानुसार जीवन-नयन करने में सहायक है। वह विश्व के प्रति मनुष्य के मन का रुख है और यह रुख गीता-ज्ञानी को भी विश्व-नाटक में अपना पार्ट अदा करने को प्रेरित करता है. क्योंकि इनके जरिये, इनके जीवन-कार्यों से प्रेरित और दीक्षित होकर ही समस्त विश्व-प्रबुद्ध ज्ञानी हो सकता है। विश्वेश्वर की इसी लीला को पूरी करने के उद्देश्य से ज्ञानी कर्मयोगी एकत्व की घोषणा करते हुए भी लीला-कार्य के लिए अनेकता को स्वीकार करेंगे। यही कारण है कि जब दर्शन वैराग्य संन्यासमय होता है, तभी उसके विरुद्ध मानव-समाज मे अश्रद्धा तथा विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति की यही आत्म-प्रेरक प्रवृत्ति उसे आग्रह-पूर्वक धर्म-युद्ध मे जुटाती है। ब्रह्मज्ञान और विश्व-प्रेम के इस संयोग से ही समस्त सत्कार्यों की सृष्टि होती है इसी मे क्रिया विज्ञान तथा दर्शन परस्पर सहायक होकर ज्ञान की पदवी पाया करते हैं। देश-प्रेम के भक्ति मार्ग और राष्ट्र-सेवा के कर्मयोग से ही गीतोक्त स्वधर्म पूरा होता है।

यों तो प्रत्येक मानव-सागर थोड़े से नेताओ और शेष विशाल अनुगामी समुदाय से सम्पन्न होता है, परन्तु युग-परिवर्त्तनकारी ऐसे क्रांति-कालों में उन अवतारी महापुरुषों की आवश्यकता अनिवार्य होती है, जो इस प्रवाह का नेतृत्व कर सकें। जिसमें स्थिति और मनुष्य दोनों की पारदर्शी परख करने की जन्मजात अचूक शक्ति हो। जो अपने युग की आत्मा-स्वरूप हों। उसे सहज ही समझते हों। जो मानव के सामाजिक जीवनेतिहास के अवतार हों। जो अपनी अंतर्दृष्टि से सदैव. स्वतः, अनायास. बिना जाने निर्णय करते हों। जो, जो कुछ भी करे, वही ठीक उतरता हो। जीवन-क्षेत्र के ये सृजनकारी महान् व्यक्तित्व स्वाभिमान व कर्त्तव्यभाव के योग-फल होते हैं। ये अपने युग के जीवित आदर्श होते हैं। इनमें अपने देशवासियों को बलिदान के लिए आह्वान करने का साहस होता है और वे अपनी उस माग को लक्ष-लक्ष जनों से पूरा करा

लेते हैं और इस खूबी के साथ कि इनके इंगित-मात्र पर सर पर कफन बांधे सहस्रशः शहीदों की सैकड़ों टोलियां कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ती हैं। जो अपने नेता की आज्ञा मानने में अपूर्व गर्व, गौरव, श्रेष्ठता और स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं। इन महापुरुषों की ये सब शक्तियां पुस्तक-प्राप्त न होकर जन्मजात होती हैं।

सौभाग्य से हमें अपने देश में भारतीय राष्ट्र को महात्मा गांधी के रूप में इन सब गुणों से सम्पन्न ऐसा लोकनायक मिल गया है, जो मानवेतिहास में अब तक निर्विवाद सर्वश्रेष्ठ स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी है। जो अन्तरात्मा की आवाज सुनने का सही और सर्वमान्य दावा करता है और जिसके जिन निर्णयों को देश के विचक्षण बुद्धि दिग्गज पहले हास्यास्पद समझते हों, वे ही सफलता के सर्वोत्तम साधन सिद्ध होते हैं। जिसने केवल अपने इसी मनोबल और आत्म-बल से इस विशाल देश की चालीस कोटि जनता में अपूर्व जागृति उत्पन्न कर दी है, जिसके पीछे चलकर देश की चौमुखी क्रांति की गति दिन-दूनी रात-चौगुनी के पैमाने में बढ़ी है जिसके बलिदानों के अनेक आवाहों पर भारत की जनता बारम्बार उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्साहों से आगे बढ़ी है। ऐसे विश्व-वन्द्य लोकनायक के होते हुए प्रगति-प्रवाह की प्रयोगशाला में हमारे लिए केवल यह कहना ही रह जाता है :—

कह लगि, सहिय, रहिय मन मारे।
नाथ साथ, मन हाथ, हमारे॥

जहां देश में ऐसे प्रकृत वीरों और अनुशासनशील लक्ष्मणों का प्राचुर्य्य हुआ, वहां साम्राज्यवाद और सम्पत्तिवाद की सोने की लंका भस्म कर भारतीय स्वाधीनता रूपी सीता समुद्र पार से वापस आई और अखिल विश्व में शान्ति, सहयोग, साम्यवाद और विश्व-संघ तथा मानव पार्लमेंट का वह राम-राज्य स्थापित हुआ, जो आज केवल सुख-स्वप्न, कोरी कपोल कल्पना-मात्र प्रतीत होता है।

जब हम मस्तक पर सबकी एकता के अनुभव रूपी मुकट वाले,

सब प्रकार की विद्याओं के संग्रहरूपी शंख वाले, समस्त कला-कौशल और कर्म-कौशलरूपी चक्र वाले, तन-बल तथा मनोबल की गदावाले और समस्त सामारिक पदार्थों तथा व्यवहारों में अनासक्ति रूपी कमल धारी चतुर्भुज राष्ट्र भगवान् की सेवा में सर्वस्व समर्पित कर देंगे, तभी हमारे नए संसार और सुन्दर तथा स्वतंत्र समाज के सब सुखद स्वप्न प्रत्यक्ष हो जायंगे। महात्मा गांधी की अनासक्ति योग के शब्दो में इस प्रकार के सर्वार्पण और सर्व-व्यापक प्रेम के बिना भक्ति सम्भव ही नहीं। इस प्रकार का सर्वार्पण और सर्वात्मैक्य तथा विश्वरूप सगुण भगवान् की सेवा ही ज्ञानमूलक भक्ति-प्रधान कर्मयोग का सम्पूर्ण सार है।

गीता-गाथा

: १ :

अर्जुन-विषाद-योग

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोलेः—हे संजय, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में लड़ने की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? । १ ।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय ने कहाः—उस समय पाण्डवों की सेना के व्यूह को देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर ये वचन बोला । २ ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

आचार्य, पांडवों की इस बडी सेना को देखिए, जिसकी व्यूह-रचना तुम्हारे योग्य शिष्य द्रुपद के बेटे (धृष्टद्युम्न) ने की है । ३ ।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इसमें बडे धनुषधारी लडाई में भीम-अर्जुन जैसे बहुत से शूरवीर-

हैं, (जैसे) सात्यकि, विराट और महारथी द्रुपद । ४ ।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान् काशिराज, पुरुजित कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य । ५ ।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु तथा द्रौपदी के पांचों पुत्र है और ये सब-के सब महारथी हैं । ६ ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, हमारी सेना में तो जो-जो विशेष पुरुष हैं, उनको भी जानिये । आपके जानने के लिए मैं उनको बताता हूं, जो हमारी सेना के नायक है । ७ ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

आप, भीष्म पितामह, कर्ण, संग्राम-विजयी कृपाचार्य, वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा । ८ ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

और भी बहुत-से शूरवीर हैं, जो तरह-तरह के हथियारों वाले तथा मेरे लिए जान देने वाले है और सब-के-सब युद्ध निपुण हैं । ९ ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी यह सेना सब तरह से अजेय है, जबकि भीम द्वारा रक्षित पांडवों-की सेना सहज ही जीती जा सकती है । १० ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिए आप लोग सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए सब-के-सब निश्चित रूप से सब ओर से भीष्म पितामह की रक्षा करें । ११ ।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

कौरवों मे वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए बड़े जोर से सिंह की तरह गरजकर शंख बजाया । १२ ।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

तब शंख, नगारे, ढोल, मृदङ्ग, नरसिंहादि बाजे एक साथ ही बज उठे, जिनका शब्द बड़ा भयंकर हुआ । १३ ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके बाद सफेद घोड़ों वाले बढ़िया रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी दिव्य शंख बजाये । १४ ।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

भगवान् श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य नाम का, अर्जुन ने देवदत्त नाम का, भयानक कर्म वाले भीम ने पौण्ड नाम का महाशंख बजाया । १५ ।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय नाम का शंख, नकुल और सहदेव ने सुघोष तथा मणिपुष्पक नाम के शंख बजाये । १६ ।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

बड़ा धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यकि । १७ ।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

राजा द्रुपद, द्रौपदी के पांचों पुत्र, बड़ी भुजा वाला सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु इन सबने अलग-अलग शंख बजाये । १८ ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

(जिसके) भारी घोष ने आकाश और पृथिवी को भी गुंजाते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय फाड़ दिये । १९ ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

राजन्, उसके बाद कपिध्वज अर्जुन ने खड़े हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों को देखकर उस हथियार चलाने की तैयारी के समय धनुष उठाकर अर्जुन ने । २० ।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

श्रीकृष्ण से यह बात कही कि अच्युत, मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए । २१ ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जब तक कि मैं इस युद्ध की इच्छा से खड़े हुओं को अच्छी तरह देखूं कि इस लड़ाई में मुझे किस-किस के साथ लड़ना चाहिए । २२ ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

लडाई में दुर्बुद्धि दुर्योधन का भला चाहने वाले जो राजा लोग यहां आये है, उन सब लड़ने वालों को मै देखूंगा। २३।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजय ने कहा—अर्जुन के यह कहने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओ के बीच मे भोष्म, द्रोण तथा सब राजाओ के सामने (अर्जुन के) बढ़िया रथ को खडा करके कहा कि पार्थ, इकट्ठे हुए कौरवों को देख। २४-२५।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।

वहां अर्जुन ने दोनों सेनाओ में खड़े हुए चाचा-ताउओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रो, नातियों तथा मित्रों को। २६।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्

ससुरों और सुहृदयो को भो देखा, उन खडे हुए सब भाइयों को देखकर अर्जुन—। २७।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

करुणा से वशोभूत होकर शोक करता हुआ बोला—कृष्ण, लड़ने के लिए उपस्थित स्वजन-समुदाय को देखकर—। २८।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२६॥

मेरा शरीर शिथिल हुआ जाता है, मुख सूखा जाता है, शरीर कांपता है और उसमें रोमाञ्च होता है । २६ ।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथ से गाण्डीव गिरा जाता है, खाल जलती है, मेरा मन चक्कर खाता है, जिससे मै खडा तक नहीं रह सकता । ३० ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

केशव, मै लक्षण भी विपरीत देखता हूं । लडाई में स्वजनों को मारकर भी कल्याण नहीं देखता । ३१ ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

कृष्ण, मैं न तो जीत चाहता हूं, न राज्य और सुख । गोविन्द, हमें राज्य-भोग और जीवन से क्या लाभ ? । ३२ ।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगा. सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

जिनके लिए हम राज्य, भोग और सुखादि चाहते हैं, वे सब धन और प्राणो का मोह छोडकर लडाई में खडे हैं । ३३ ।

आचार्या. पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥

आचार्य, चाचा-ताऊ-बेटे वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी सम्बन्धी हैं, । ३४ ।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

मधुसूदन, (इनसे) मारे जाने पर भी, और तीनों लोकों के राज्य

के लिए भी मै इनको नहीं मारना चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है ? । ३५ ।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा । ३६ ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिए माधव, अपने ही भाई धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारना हमें उचित नहीं, क्योंकि अपने कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? । ३७ ।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्ट-चित्त ये लोग कुल-नाश के दोष और मित्र-द्रोह के पाप को नहीं देखते । ३८ ।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

जनार्दन, कुल-नाश से होने वाले दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से बचने के लिए क्यों नही विचार करना चाहिए ? । ३९ ।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल-नाश होने पर सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जायंगे, धर्म-नाश होने पर सम्पूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है । ४० ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

कृष्ण, पाप बढने पर कुल-स्त्रियां दूषित हो जाती हैं। वार्ष्णेय स्त्रियों के दूषित होने पर वर्ण-संकर उत्पन्न होता है । ४१ ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक क्रियाः ॥४२॥

वर्ण-संकर कुलघातियों को तथा कुल को नरक में गिराने के लिए ही होता है । पिण्ड और जल की क्रिया लुप्त होने पर उनके पितर लोग भी पतित होते है । ४२ ।

दोषैरेतै. कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकै ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

इन वर्ण-संकर कारक दोषो से कुल-घातियो के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं । ४३ ।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

जनार्दन, हमने सुना है कि नष्ट हुए कुल-धर्म वाले मनुष्य अनन्त-काल तक नरक वासी होते हैं । ४४ ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्य सुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

हा शोक, कि हम लोग (ऐसा) महापाप करने को तैयार हैं कि राज्य और सुख के लोभ से अपनों ही को मारने को तैयार हैं । ४५ ।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि मुझ निःशस्त्र और सामना न करने वाले को ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्र-पुत्र लड़ाई में मार दें, तो वह भी मेरे लिए बहुत कल्याणकारी होगा । ४६ ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानस ॥४७॥

संजय ने कहाः—लड़ाई के मैदान में, शोक से उद्विग्न-मन अर्जुन

इस प्रकार कहकर तथा तीरों समेत धनुष को छोड़कर रथ के पिछले हिस्से में बैठ गया। ४७।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो-नाम प्रथमोऽध्याय ॥१॥

: २ :

सांख्य-योग

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय ने (आगे) कहाः—इस तरह करुणाग्रस्त और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले उस दुःखी अर्जुन से भगवान् ने कहा —। १।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

अर्जुन, तुम्हें इस विषम स्थल में यह अज्ञान कहाँ से हुआ, क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों के ही योग्य है, न स्वर्गप्रद तथा कीर्त्तिकर ही है। २।

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

अर्जुन, तू नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है। परंतप, हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़, (युद्ध के लिए) खड़ा हो ।३।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोला —मधुसूदन, रणभूमि में मैं भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य से बाणों से कैसे लड़ूंगा, क्योंकि मधुसूदन, वे दोनों ही पूजनीय हैं। ४।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महानुभाव, गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भीख मांगना भी कल्याणकारी है, क्योंकि गुरुजनों को मारकर (भी) इस लोक में मैं खून से सने अर्थ और काम रूप भोगों को ही तो भोगूंगा। ५।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

(हम) यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना श्रेष्ठ है, न यही कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र-पुत्र हमारे सामने खड़े हैं। ६।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव-
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेय स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कायरता से हत स्वभाव (और) धर्म के विषय में संमूढ चित्त होने पर (मैं) जो निश्चित रूप से कल्याणकारी हो, वह मेरे लिए कहिए, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। अपने शरणागत मुझको शिक्षा दीजिए। ७।

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्य सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

क्योंकि धन-धान्य सम्पन्न भूमि के राज को और देवताओं के अधि-

-पत्य को पाकर भी मै उस उपाय को नहीं देखता, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके । ८ ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

संजय ने कहाः—राजन्, निद्राजीत अर्जुन भगवान कृष्ण से—युद्ध नहीं करूंगा—ऐसा स्पष्ट कहकर चुप हो गया । ९ ।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

भारत, अंतर्यामी श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच उस दुःखी अर्जुन से हँसते हुए कहा, । १० ।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्री भगवान् बोलेः—तू अशोच्यो का शोक करता है और पंडितों की-सी बातें करता है। परन्तु पंडित लोग मरो और जीतो के लिए भी शोक नही करते । ११ ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न तो यही है कि किसी काल में मै नहीं था, न यही कि तू नहीं था और ये राजा लोग नही थे । और न यही है कि आगे हम सब नहीं रहेगे । १२ ।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जैसे जीवात्मा की इस देह मे कुमार व युवा और वृद्धावस्था बदलती हैं, वैसे ही दूसरे शरीर भो बदलते हैं। इस विषय मे धीर पुरुष मोहित नहीं होता। १३ ।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

कौन्तेय, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो क्षण-भंगुर और अनित्य हैं । भारत, उनको सह । १४ ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

क्योंकि पुरुष श्रेष्ठ सुख-दुःख को एक-सा समझने वाले जिस धीर को ये (इन्द्रियों के विषय) व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है । १५ ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् (वस्तु) का अस्तित्व नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता । इन दोनों को ही तत्त्वज्ञानियों द्वारा देखा गया है । १६ ।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशी, उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, क्योंकि इस अविनाशी का नाश कोई नहीं कर सकता । १७ ।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अविनाशी, अप्रमेय, नित्य जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् बताये गए हैं, इसलिए भारत, तू युद्ध कर । १८ ।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है, तथा जो इस आत्मा को मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं (क्योंकि) यह आत्मा न मारता है न मारा जाता है । १९ ।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा किसी काल मे भी न जन्मता है, न मरता है। न यह आत्मा होकर फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, और पुरातन है, जो शरीर नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता। २०।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

पार्थ, जो इस आत्मा को अविनाशी नित्य, अजन्मा (और) अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है, (और) कैसे किसको मारता है। २१।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने कपडो को छोडकर दूसरे नये कपडो को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरो को छोडकर दूसरे नए शरीरो को पाता है। २२।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न इसको आग जला सकती है, न इसको जल गीला कर सकता है और न वायु सुखा सकती है। २३।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य है। यह निस्सन्देह नित्य,

सर्वव्यापी, अचल, स्थिर और सनातन है। २४।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह अव्यक्त, अचिन्त्य, विकार-रहित कहा जाता है, इससे इस आत्मा को ऐसा समझकर तू शोक मत कर। २५।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तू इसको सदा जन्मने-मरने वाला माने, तो भी अर्जुन, इस प्रकार शोक करना उचित नहीं। २६।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि जन्मने वाले की मृत्यु और मरने वाले का जन्म निश्चित है, इससे तू अपरिहार्य के लिए शोक मत कर। २७।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

सब प्राणी जन्म से पहले और मरने के बाद अव्यक्त (बिना शरीर वाले) और जन्म-मरण के बीच में व्यक्त (शरीर वाले) प्रतीत होते हैं, फिर उसकी क्या चिन्ता ? २८।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इस आत्मा को आश्चर्य-जैसी देखता है, कोई आश्चर्य-जैसी कहता है। दूसरा इसे आश्चर्य जैसी सुनता है, कोई-कोई सुनकर भी इसे नहीं जानता। २९।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणिभूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अर्जुन, आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है, इसलिए तुझे

किसी भी प्राणी के लिए शोक नहीं करना चाहिए। ३०।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अपने धर्म का ख्याल करके भी मत डर, क्योंकि धर्म-युद्ध से बढकर कल्याणकारी क्षत्रियों के लिए और कुछ नहीं। ३१।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

पार्थ, अपने-आप मिले और खुले स्वर्ग के द्वार जैसे युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं। ३२।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

और यदि तू इस धर्म-संग्राम को न करेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति खोकर पाप पावेगा। ३३।

अकीर्त्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्
संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

और सब लोग तेरी बहुत दिनों तक न मिटने वाली निन्दा करेंगे; एवं माननीयों के लिए निन्दा मरण से भी बुरी है। ३४।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

तथा जिनके लिए भी तू माननीय होकर तुच्छ हो जायगा, वे महारथी लोग यही मानेंगे कि तू उठकर लड़ाई से भाग गया। ३५।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

और तेरे वैरी तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत-सी अन-कहनी बातें कहेंगे, (जिससे तुझे) और भी अधिक दुख होगा। ३६।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

तू युद्ध में मरा तो स्वर्ग को जायगा, जीता तो पृथ्वी को भोगेगा;

इसलिए अर्जन, युद्ध का निश्चय कर खड़ा हो। ३७।

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख-दुःख लाभ-हानि, जीत-हार को समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो; जिससे तुझे पाप न लगे। ३८।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

पार्थ, अब तक की बात ज्ञानयोग के बारे में कही गई और अब कर्म-योग के बारे में सुन! जिस बुद्धियोग से मुक्त होकर तू कर्म-बन्धन का नाश कर देगा। ३९।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इस निष्काम कर्मयोग मे आरम्भ (बीज) का नाश नहीं होता, न इसमे उलटा फल मिलने का ही दोष है। इसका थोड़ा (साधन) भी जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से बचा देता है। ४०।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

अर्जुन, यहां निर्णयात्मक बुद्धि एक ही है, निश्चय हीनो की बुद्धियां बहु शाखवाली और अनन्त होती हैं। ४१।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिन' ॥४२॥
कामात्मान. स्वर्गपरा जन्म कर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

अर्जुन, जो सकामी लोग वेद-वादी, स्वर्ग को ही सब कुछ मानकर उसके अलावा और कुछ नहीं है, ऐसा कहने वाले हैं वे अविवेकी जन्म-रूप कर्म-फल को देने वाली भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत-सी क्रियाओं वाली इस प्रकार की जिस दिखाऊ-सुहावनी बात को कहते हैं। ४२–४३।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

उसके अन्तःकरण में निर्णयात्मक बुद्धि नहीं होती, क्योंकि वह भोग और ऐश्वर्य में आसक्त उन पुरुषों की चेतना उपर्युक्त बातों से हरी हुई होती है । ४४ ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

अर्जुन, सब वेद तीनों गुणों के विषय हैं, तू त्रिगुणातीत, द्वन्द्वरहित नित्य वस्तुमें स्थित योग-क्षेम को न चाहने वाला आत्म-परायणहो ।४५।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

सब ओर जल से भरे होने पर छोटी-सी पोखर का जितना मतलब रह जाता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी को भी सब वेदो से उतना ही काम रह जाता है । ४६ ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

तेरा अधिकार कर्म करने का है, फल पाने का नहीं । कर्म-फल का मतलबी मत बन । न कर्म न करने में ही आसक्ति रख, । ४७ ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

अर्जुन, आसक्ति को छोड़, सिद्धि-असिद्धि में एक-सा रहकर तथा योगस्थ होकर कर्म कर । समत्व भाव को ही योग कहते हैं । ४८ ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

बुद्धि-योग के सामने (सकाम) कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं, इसलिए धनजय, बुद्धि-योग की शरण ले, क्योंकि फल की गरज वाले बहुत कृपण होते हैं । ४९ ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

समत्व-बुद्धि-युक्त मनुष्य पुण्य-पाप दोनों से ही इसी लोक में निर्लिप्त हो जाता है, इससे समत्व बुद्धियोग को ही सिद्ध कर। कार्यों में कुशलता ही योग है। ५०।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

क्योंकि बुद्धि योगवाले ज्ञानी कर्मज फलों को छोडकर जन्मरूप बंधन से मुक्त निर्दोष परम पद को पाते हैं। ५१।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दल-दल को पार कर जायगी, तब तू सुनी हुई और सुनने लायक बातों से निर्वेद होगा। ५२।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

तरह-तरह के सिद्धान्तों के सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब आत्मा के स्वरूप में अचल और स्थिर हो जायगी, तब तू समत्वरूप-योग को प्राप्त होगा। ५३।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन ने पूछाः—केशव, समाधिस्थ स्थिर बुद्धि पुरुष की क्या-पहचान है? स्थित-धी कैसे बोलता, उठता और कैसे चलता है? ५४।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

भगवान् ने कहाः—पार्थ, जब कोई मनुष्य मनोस्थित सब कामनाओं

को छोड़ देता है, तब आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट यह मनुष्य स्थित-प्रज्ञ कहलाता है। ५५।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

जिसका मन दुःख मिलने पर उद्विग्न नही होता, जो सुखों की इच्छा छोड़ चुका है, जिसके राग, भय, क्रोध नष्ट हो गए हैं; ऐसे मुनि को स्थिर बुद्धि कहते हैं। ५६।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो मनुष्य सर्वत्र स्नेह रहित है, जो शुभ-अशुभ कुछ भी मिलने पर न खुश होता है, न द्वेष करता है उसको बुद्धि स्थिर है। ५७।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

जो मनुष्य जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है, वैसे ही सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। ५८।

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५९॥

निराहारी मनुष्य के विषय निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु रस (चाह) नहीं जाती। स्थित-प्रज की चाह भी परमात्मा को देखकर चली जाती है। ५९।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अर्जुन, जो बलवान इन्द्रियां यत्न करने वाले बुद्धिमान पुरुष के भी मन बलपूर्वक हर लेती हैं, उन सब इन्द्रियों को वश में करके युक्त और

परमात्मा-परायण होना चाहिए; क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है। ६०-६१।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है। कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध पैदा होता है। ६२।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोध में से मोह पैदा होता है, अविवेक से स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मरण-शक्ति के नष्ट होने पर बुद्धि-नाश, और बुद्धि-नाश से विनाश होता है। ६३।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परन्तु स्वाधीन अन्त.करण वाला मनुष्य अपने वश में की हुई राग-द्वेष-रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता पाता है। ६४।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्त करण की प्रसन्नता से सब दुःखों का नाश हो जाता है। प्रसन्न चित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही भली-भांति स्थिर हो जाती है। ६५।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयत.शान्तिरशान्तस्य कुतःसुखम् ॥६६॥

अयुक्त पुरुष के अंतःकरण में शुद्ध-बुद्धि नहीं होती, न भावना (आस्तिक भाव) ही होती है। भावना रहित मनुष्य को शान्ति भी नहीं मिलती। शांति हीन को सुख कहां? ।६६।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

क्योंकि जैसे जल में हवा नाव को हर लेती है, वैसे ही विषयों के बीच में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह इन्द्रिय उस पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। ६७।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए महाबाहु, जिस मनुष्य की इन्द्रियां सब प्रकार इन्द्रियों के विषयों से निगृहीत हो जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थित होती है। ६८।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सब प्राणियों के लिए जो रात है, उसमें संयमी जागता है। जिसमें सब प्राणी जागते हैं; तत्त्वदृष्टा मुनि के लिए वह रात्रि है। ६९।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे सब तरह से भरे हुए अचल प्रतिष्ठित समुद्र में सब नदियों का जल समा जाता है, वैसे ही जिसमें सब काम समा जाते हैं, वही परम शांति को पाता है, न कि काम-कामी (भोगों को चाहने वाला)।७०।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो मनुष्य सब कामों को ममता, अहङ्कार और स्पृहा-रहित बरतता है, वह शांति पाता है। ७१।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

पार्थ, यह ब्रह्मज्ञानी की स्थिति है, इसे पाने पर मोह नहीं होता।

अन्तकाल में भी इन निष्ठा में स्थिति होकर ब्रह्मानन्द को पाता है। ७२।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

: ३ :

कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन ने पूछा—जनार्दन, आप कर्मों से ज्ञान को श्रेष्ठमानते हैं, फिर केशव, भयंकर कर्म में मुझे क्यो लगाते हैं ? । १ ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

मिली हुई-सी बात से मेरी बुद्धि मोहित-सो हो जाती है। ऐसी एक एक बात बताइये, जिससे मुझे कल्याण मिले । २ ।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

भगवान् ने कहाः—निष्पाप, इस लोक में पहले मैंने दो प्रकार की निष्ठा बताई है। ज्ञानियों की ज्ञान-योग से, योगियों की कर्म-योग से। ३ ।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

मनुष्य कर्म न करके निष्कर्मता को नहीं पाता और न कर्म-संन्यास से सिद्धि मिलती है, । ४ ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

क्योंकि कोई किसी समय क्षण भर भी बिना काम नहीं रहता।

निस्सन्देह सब लोग प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा विवश कर्म करते हैं। ५।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मूढ़ कर्मेन्द्रियों को रोककर इन्द्रियों के विषयों का मन से चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहाता है। ६।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

और अर्जुन, जो मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों से कर्म-योग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है। ७।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

तू नियत कर्म कर, क्योंकि अकर्मण्यता से कर्म श्रेष्ठ है और कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं होगा। ८।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञ-कर्मों के सिवा दूसरे कामों मे मनुष्य कर्मों मे बंधता है। कौन्तेय यज्ञार्थ कर्म आसक्ति छोड़कर कर। ९।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि मे प्रजा को यज्ञ सहित रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा बढो। यह यज्ञ तुम लोगों की मनोकामनाओं को पूरा करेगा। १०।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

यज्ञ द्वारा देवताओं को बल दो, वे देवता तुम्हारी उन्नति करें। इस तरह एक दूसरे की उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओ। ११

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुम्हारे लिए मन चाहे भोग देंगे । जो मनुष्य ऐसे भोगों को देवताओं को उनका भाग बिना दिये भोगता है, वह निश्चय चोर है । यज्ञ से बचे को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं । जो पापी लोग अपने लिए ही पकाते हैं, वे तो पाप का खाते हैं । १२-१३ ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

सब प्राणी अन्न से पैदा होते हैं, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से और यज्ञ कर्म-सम्भूत है । १४ ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न मान, ब्रह्म अविनाशी से उत्पन्न हुआ है, इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है । १५ ।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

पार्थ, जो इस लोक में इस प्रकार चलाए हुए सृष्टि-चक्र के अनुसार नहीं चलता, वह इन्द्रिय-सुख-भोगी पाप-जीवी व्यर्थ ही जीता है । १६ ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रत, उसी से तृप्त तथा आत्मा से संतुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है । १७ ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

ऐसे मनुष्य को इस संसार में न तो किये जाने से ही कोई मतलब है, न न किये जाने से ही। सब प्राणियों से उसका कुछ भी स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं होता। १८।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तू अनासक्त हो निरन्तर भली भांति कर्त्तव्य-कर्म कर। क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है। १९।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनकादि कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इसलिए लोक-संग्रह का ख्याल करके तुझे कर्म ही करना चाहिए। २०।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ जो आचरण करता है, दूसरे लोग उसी के अनुसार चलते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग उसके अनुसार चलते हैं। २१।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

पार्थ, तीनो लोकों में मुझे कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, तथा कोई भी पाने लायक चीज़ अप्राप्य नहीं है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ। २२।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूं, तो ये सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जायें और मैं

वर्णसंकर का करने वाला तथा इस सारी प्रजा को मारने वाला बनूं । २३-२४ ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो तथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम् ॥२५॥

भारत, कर्म मे आसक्त अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त विद्वान् भी लोक-शिक्षा की इच्छा से करें । २५ ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोपयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी पुरुष कर्मासक्त अज्ञानियों में बुद्धि-भेद (भ्रम) न पैदा करें, वे सर्वात्म भाव से मुक्त सब कामों को अच्छी तरह करते हुए उनसे भी करावें । २६ ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सब काम प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं । मूढ, अहंकारी यह मानते हैं कि उन्हे मैं करता हूं । २७ ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेपु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु महाबाहो, गुण और कर्म-विभाग के तत्त्व को जानने वाले तत्त्व-ज्ञानी सब गुण-गुणों मे वर्त्तते है, यह जानकर आसक्त नहीं होते । २८ ।

प्रकृतेर्गुणसंमूढा' सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृत्ति के गुणों से मोहित गुण-कर्मों में आसक्त होते हैं, उन स्वल्पज्ञ मूर्खों का सर्वज्ञ चलायमान न करें । २९ ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अध्यात्म चित्त से सब कामों को मुझमे सौंपकर तथा आशा और

ममता छोड़कर सन्ताप रहित युद्ध कर । ३० ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो भी मनुष्य निर्दोष-भाव और श्रद्धा से सदैव मेरे इस मत के अनुसार चलते हैं, वे सब कामो से छूट जाते हैं । ३१ ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टा न चेतसः ॥३२॥

और जो दूषित दृष्टि वाले मूर्ख मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते, उन सब ज्ञानों में मूढो को नष्ट जान । ३२ ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सब लोग प्रकृति के अनुसार कर्म करते हैं । ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं । इसमे निग्रह क्या करेगा ? । ३३ ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रियों के भोगों मे इन्द्रियों का राग-द्वेष व्यवस्थित है, इस पथ पर चलने वाला इन दोनों के वश मे न हो । ३४ ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अच्छी प्रकार अनुष्ठित परधर्म से स्वधर्म विगुण भी अत्युत्तम है । अपने धर्म मे मरना भी कल्याणकारी है । परधर्म भयावह है । ३५ ।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन ने पूछाः—वार्ष्णेय, फिर यह मनुष्य अपनी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक लगाये गए की तरह किससे प्रेरित होकर पाप करता है ? । ३६ ।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥३७॥

भगवान् ने कहाः—रजोगुण से उत्पन्न ये काम-क्रोध कभी न तृप्त होने वाले महापापी हैं। यहां इनको ही तू वैरी मान। ३७।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएं से अग्नि और मैल से दर्पण ढक जाता है, जैसे जेर से गर्भ ढक जाता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है। ३८।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

और अर्जुन, ज्ञानियों के इस नित्य वैरी से यह ज्ञान ढका हुआ है, वह आग की तरह कभी तृप्त नहीं होता, तथा काम-रूप है। ३९।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए अर्जुन, तू पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी को निश्चयपूर्वक मार। ४०-४१।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियां, (निरेन्द्रिय सृष्टि) से श्रेष्ठ और सूक्ष्म हैं। मन इन्द्रियों से तथा बुद्धि मन से श्रेष्ठ और सूक्ष्म है और आत्मा बुद्धि से परे अर्थात् श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। ४२।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस तरह बुद्धि से भी श्रेष्ठ आत्मा को पहचान कर बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके, महाबाहो, दुर्लभ काम-रूप शत्रु को मार ! । ४३ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

: ४ :

ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्री भगवान् ने कहाः—यह सनातन योग मैंने सूर्य को बताया था । सूर्य ने मनु को, मनु ने राजा इक्ष्वाकु को बताया । १ ।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

अर्जुन, इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, परन्तु बहुत काल से इस लोक में यह योग लोप हो गया था । २ ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही पुराना योग अब मैंने तुम्हें बताया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है । यह योग उत्तम और रहस्यमय है । ३ ।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्जुन ने कहाः—आपका जन्म तो अब हुआ है, सूर्य का बहुत

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए, तथा धर्म-स्थापना करने के लिए मैं हर एक युग में प्रकट होता हूं । ८ ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

अर्जुन, मेरा जन्म और कर्म दिव्य (अलौकिक) है, इस तरह जो पुरुष तत्त्व से जानता है, वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता । वह मुझे ही प्राप्त होता है । ९ ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित, अन्य भाव से मुझमें स्थित, मेरी शरण में आकर बहुत से पुरुष ज्ञान-रूप तप से पवित्र मेरे स्वरूप को पा चुके हैं। १०।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

अर्जुन, जो मुझे जैसे भजते हैं, मैं (भी) उनको वैसे ही भजता हूं। (यह जानकर ही) मनुष्य सब तरह से मेरे मार्ग पर चलते हैं। ११।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

इस लोक में मनुष्य कामों की सिद्धि की इच्छा से देवताओं को पूजते हैं। इस मनुष्य-लोक में कर्मों से (उत्पन्न) सिद्धि भी शीघ्र मिल जाती है। १२।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की सृष्टि गुण-कर्म के विभागानुसार मैंने की है। उसका कर्त्ता भी मुझ अविनाशी, अकर्त्ता को ही जान। १३।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

कर्मों के फल की मुझे इच्छा नहीं। मुझमें कर्म नहीं लिपते, इस प्रकार जो तत्त्व से मुझे जानता है, वह कर्मों से नहीं बंधता। १४।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

पहले मुमुक्षु पुरुषों ने भी यही जानकर कर्म किये हैं, इससे तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये गए कर्म कर। १५।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

वह आश्रय रहित सदैव (आत्म) तृप्त (ज्ञानी) कर्मों के फलों की
आसक्ति को छोड़कर सब काम करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। २०

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

आत्मा में चित्त लगा हुआ है जिसका, तथा जिसने भोगों की सा
सामग्री त्याग दी है, ऐसा आशा रहित पुरुष केवल शारीरिक कर्म करता
हुआ पाप को नहीं पाता । २१ ।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

अपने-आप जो-कुछ मिल जाय, उसी में संतुष्ट, द्वन्द्वों से परे, ईर्ष्या-हीन, सिद्ध-असिद्ध मे बराबर रहने वाला, काम करके भी उसके बन्धन में नहीं बंधता। २२।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

असक्ति हीन, ज्ञान में स्थित चित्त-युक्त पुरुष के यज्ञ के लिए किये गए सब काम नष्ट हो जाते हैं। २३।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

अर्पण (स्रु वादिक) ब्रह्म है, हवि (हवनीय द्रव्य) ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म-कर्त्ता द्वारा किया गया हवन भी ब्रह्म है, ब्रह्म-कर्म में समाधिस्थ पुरुष का गन्तव्य भी ब्रह्म ही है। २४।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दूसरे योगी देव-पूजा-यज्ञ की ही उपासना करते हैं, कुछ ब्रह्माग्नि में यज्ञ द्वारा ही यज्ञ को हवन करते हैं। २५।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

कुछ श्रोत्रादिक इन्द्रियों का संयमाग्नि मे हवन करते हैं, कुछ शब्दादि विषयों का इन्द्रियाग्नि में हवन करते हैं। राग-द्वेष शून्य इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करते हुए भी उन्हे भस्म कर देते है। २६।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

कुछ सब इन्द्रियो के कर्मों को तथा प्राणों के व्यापार-ज्ञान से प्रकाशित आत्म-संयम योगाग्नि मे हवन करते हैं। २७।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे तरह-तरह के सब यज्ञ वेदों में बताये गए हैं। ये सब कर्म से उत्पन्न हैं, यह जानकर मुक्ति पाओगे। ३२।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

अर्जुन, द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। पार्थ, सब ज्ञान

में समाप्त होते हैं। ३३।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

दण्ड-प्रणाम, सेवा और प्रश्नों द्वारा इस ज्ञान को जान। तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे। ३४।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

जिसे जानकर पाण्डव, तू फिर कभी मोह को नही प्राप्त होगा और जिसे जानकर तू सब भूतों को अपनी आत्मा मे और मुझमें देखेगा। ३५।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

यदि तू सब पापियो से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञानरूपी नाव द्वारा निस्सन्देह सब पापों से तर जायगा। ३६।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। ३७।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इस संसार में निस्सन्देह ज्ञान के बराबर पवित्रकारी और कुछ भी नहीं, उस ज्ञान को समत्व बुद्धि-रूप योग मे सिद्धि प्राप्त पुरुष समय पाकर अपने-आप अपनी आत्मा में अनुभव कर लेता है। ३८।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जितेन्द्रिय, तत्पर और श्रद्धावान को ज्ञान मिलता है। ज्ञान पाकर पुरुष तुरंत परम शान्ति को पाता है। ३९।

कर्म-संन्यास-योग

अर्जुन उवाच :

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन ने कहा—कृष्ण, आप पहले कर्मों के संन्यास की फिर कर्म-योग की प्रशंसा करते हैं, इसलिए इन दोनों में से जो एक निश्चित रूप से कल्याणकारी हो, वह मुझे बताओ । १ ।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्री भगवान् ने कहा—कर्म संन्यास और कर्म-योग दोनों ही परम कल्याणकारी हैं, परन्तु इन दोनों में कर्म-संन्यास से कर्म-योग श्रेष्ठ है।२।

ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

अर्जुन, जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी से कुछ चाहता है, उसे नित्य सदा संन्यासी ही जानो, क्योंकि राग-द्वेष रहित पुरुष आसानी से कर्म-बंधन से छूट जाता है। ३।

साख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

बच्चे ही ब्रह्म-ज्ञान और कर्म-योग को अलग-अलग बताते हैं, पंडित नहीं। एक में अच्छी तरह स्थित मनुष्य दोनों का फल पाता है। ४।

यत्साख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

सांख्य योगियों को जो स्थान मिलता है, निष्काम कर्म-योगियों को भी वही मिलता है, इसलिए जो सांख्य और योग को एक ही देखता है, वह देखता है। ५।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

परन्तु अर्जुन, कर्म-योग बिना संन्यास पाना कठिन है, कर्मयोगी मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को पहुँच जाता है। ६।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जितात्मा, जितेन्द्रिय शुद्धात्मा सब भूतों की आत्मा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता। ७।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥९॥

तत्त्वज्ञ तथा मुक्त पुरुष देखते, सुनते, छूते, सूंघते, खाते, चलते सोते, सांस लेते, बोलते, छोड़ते, ग्रहण करते और खोलते-मीचते हुए भी इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार कर रही हैं, यह समझता हुआ ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता। ८-९।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

जो सब कार्यों को ब्रह्मार्पण करके अनासक्त कर्म करता है, वह पाप से उसी तरह लिपायमान नहीं होता, जैसे जल से कमल का पत्ता। १०

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

कर्म-योगी आसक्ति छोड़कर, आत्म शुद्धि के लिए केवल मन,बुद्धि इन्द्रिय और शरीर से कर्म करते हैं। ।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

वे कर्म-फल को छोड़कर परम शांति पाते हैं। अयुक्त (सकार्य) और फलासक्त कामना के कारण कर्म-बन्धन में फंसते हैं। १२।

सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

आत्म-संयमी पुरुष न कुछ करता हुआ,न कुछ खाता हुआ निस्सन्देह नौ द्वार वाले शरीर में सब कार्यों को मन से छोड़कर सुख पाता है। १३

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

परमात्मा, प्राणियों के कर्तापन, कर्म और कर्म-फल-संयोग को नहीं

रचता। परमात्मा के सकाश से प्रकृति ही वर्त्तती है। १४।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

परमात्मा न किसी से पाप लेता है न पुण्य। अज्ञान से ज्ञान ढका होने से सब जीव मोह में पड़ते हैं। १५।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परन्तु जिसने अपने इस आत्म-अज्ञान को आत्म-ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया, उनका ज्ञान सूर्य-सदृश परमात्मा को प्रकाशता है। १६।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

आत्म-बुद्धि, आत्म-मन, आत्म-निष्ठ, तथा आत्म-परायण पुरुष परम गति पाते हैं, क्योंकि उनके पाप ज्ञान से धुल जाते हैं। १७।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

पण्डित को. विद्या और विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल समदर्शी होते हैं। १८।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका मन समभाव में स्थित है, वे जीवितावस्था मे ही सब संसार को जीत लेते है, क्योंकि सच्चिदानन्द निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्द मे ही स्थित है। १९।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

प्रिय को पाकर जो खुशी नहीं होता, तथा अप्रिय को पाकर दुःखी नहीं होता, ऐसा स्थिर बुद्धि असंमूढ ब्रह्मवित् सच्चिदानन्द में स्थित होता है। २०।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाहर के स्पर्शों अर्थात सांसारिक भोगों में अनासक्त आत्मा में जो सुख अनुभव करता है, वही सच्चिदानन्द में स्थित होकर अक्षय आनन्द का अनुभव करता है । २१ ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

संस्पर्श सम्भूत सब भोग दुःख देनेवाले और अनित्य हैं । कौन्तेय, बुद्धिमान लोग उनमें नहीं रमते । २२ ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य शरीर छोड़ने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सह सकता है, वह इस लोक में योगी और सुखी है । २३ ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो आत्म-सुखी, आत्मामयी तथा आत्म ज्ञानी है, वह योगी सच्चिदानन्द होकर शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है । २४ ।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

पाप-हीन, संशयहीन यतात्मा तथा सब प्राणियों के हित में रत ऋषि ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करते हैं । २५ ।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम-क्रोध-हीन यत-चित्त आत्म-ज्ञानी यतियों को सब ओर से ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है । २६ ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।२७।।

बाहर के विषय भोगो को बाहर ही छोडकर दृष्टि को भ्रकुटी के बीच में टिकाकर नाक मे चलने वाली प्राण और अपान वायु को सम करके । २७ ।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।२८।।

मन, बुद्धि और इद्रियजित् मोक्ष-परायण जो मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह सदा मुक्त ही है । २८ ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।२९।।

मुझे और यज्ञ-तपो को भोगने वाला सब लोकों का ईश्वर भी सब प्राणियों का सुहृद है, ऐसा जानकर शांति मिलती है । २९ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्म-
संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

: ६ :

आत्म-संयम-योग

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।१।।

श्री भगवान् ने कहा :—जो कर्म-फल का आसरा छोडकर कर्त्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है, अग्निहोत्रादि श्रौत-स्मार्त्त-कर्म अथवा कर्म-मात्र छोडने भर से कोई संन्यासी और योगी नहीं हो सकता । १ ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

पाण्डव, जिसको संन्यास कहते हैं, उसी को योग जानो । संकल्प का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं हो सकता । २ ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

मोक्ष की इच्छा रखने वाले को कर्म ही (मोक्ष-प्राप्ति का) साधन है, और उसी के योगारूढ़ हो जाने पर शम ही उसके कर्मयोग का कारण बन जाता है । ३ ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

मनुष्य योगारूढ़ तब कहा जाता है, जब वह इन्द्रियों के विषयों और कर्मों में आसक्त नहीं होता और सब संकल्पों को छोड़ देता है । ४ ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

आत्मा द्वारा ही आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को नष्ट न करे । आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु । ५ ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जिसने आत्मा से आत्मा को जीत लिया है, उसका आत्मा उसका बन्धु है और अनात्मा का आत्मा ही उसके शत्रु की तरह वर्त्तता है । ६ ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

शान्त और जितात्मा का मन सरदी-गरमी, सुख-दुःख, मानापमान में भी परमात्मा में समाहित रहता है । ७ ।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान-विज्ञान में जिसकी आत्मा तृप्त है, जो जितेन्द्रिय तथा कूटस्थ है, वह मिट्टी, पत्थर, सोने को एक ही बराबर समझने वाला युक्तयोगी कहलाता है । ८ ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृद, मित्र-शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओ, तथा महात्मा और पापियों मे भी समबुद्धि रखने वाला श्रेष्ठ होता है । ९ ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मानिराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी अकेला सदैव मन और चित्त को वश मे करके सब प्रकार की आशा और आराम की सामग्रियो को छोडकर एकान्त मे बैठकर समाधि लगावे । १० ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

पवित्र स्थान में दृढ आसन लगावे, जो न बहुत ऊंचा हो, न बहुत नीचा । उस पर पहले कुश, फिर मृग-चर्म और वस्त्र बिछावे । ११ ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियाः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

उस आसन पर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोककर तथा मन को एकाग्र करके आत्म-शुद्धि के लिए योगाभ्यास करे । १२ ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनःसंयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

देह, शिर और गर्दन को स्थिर तथा सीधा करके, किसी दिशा में

न देखता हुआ अपनी नाक के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, शांत आत्मा तथा भयरहित होकर और ब्रह्मचर्य व्रत लेकर, मन का संयम करके, मुझमें चित्त लगाकर तथा योग-युक्त होकर मुझमें परायण हो। १३-१४।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार आत्म-संयमी योगी सदा आत्म-योग में रत रहता हुआ मुझमें रहने वाली परम निर्वाण की शांति को प्राप्त होता है। १५।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

अर्जुन, बहुत खाने में या कुछ भी न खाने में, बहुत जगने या बहुत सोने में योग नहीं है। १६।

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

आहार-विहार तथा सब कर्मों को उचित करने वाले और समयानुसार सोने वाले पुरुष के दुःखों को योग दूर कर देता है। १७।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

जब चित्त विनयी होकर आत्म-स्थित हो जाता है, तथा जब सब कामनाओं से निस्पृह हो जाता है, तब युक्त कहा जाता है। १८।

यथा दीपोनिवातस्था नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

जैसे वायुहीन स्थान में रखा हुआ दीपक नहीं हिलता, उसी उपमा के अनुसार यत-चित्त योगी का भी आत्म-योग में अडिग रहता है। १९।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

जब योगाभ्यास से रुककर चित्त उपराम को प्राप्त होता है, तब आत्मा को देखकर संतुष्ट होता है। २०।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

जो आत्यन्तिक सुख अतीन्द्रिय और बुद्धि ग्राह्य है और जिसे जानकर उसमें स्थित होकर उस तत्त्व से चलायमान नहीं होता । २१ ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

जिसे पाकर दूसरे किसी भी लाभ को उससे अधिक नहीं मानता और जिसमे स्थित होकर महान् दुःख से भी चलायमान नहीं होता । २२ ।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

दुःख-संयोग से रहित उसी अवस्था को योग कहते हैं । निर्विकार चित्त से निश्चित रूप से उसी का अभ्यास करना चाहिए । २३ ।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

संकल्प से पैदा होने वाली सब कामनाओं का पूर्ण त्याग करके, सब तरह मन द्वारा इन्द्रियों को रोक कर । २४ ।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

धीर-बुद्धि से धीरे-धीरे मन को ऊपर उठाता हुआ, तथा उसे आत्मा में स्थित करे और किसी का चिंतन न करे । २५ ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

चंचल तथा अनस्थिर मन जहां-जहां जाय, वहां-वहां से रोककर उसे अपनी आत्मा में लावे । २६ ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

शांत रज, निष्पाप, ब्रह्मभूत, निश्चित रूप से शांत चित्त वाले उस

योगी को अत्यन्त श्रेष्ठ सुख मिलता है। २७।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

यह पापहीन सतत आत्म-योगी आसानी से ब्रह्म-संस्पर्श के अत्यन्त सुख को भोगते हैं। २८।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

योग युक्त आत्मा वाला, अपने में सब प्राणियों को और सब प्राणियों को अपने में देखता है, वह सब जगह समदर्शी होता है। २९।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो सबको मुझमें और मुझमे सबको देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं हूं और न वह मेरे लिए अदृश्य है। ३०।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो एक ब्रह्म मे स्थित होकर भाव से सब प्राणियों मे स्थित परमात्मा को भजता है, वह सब दशाओं मे वर्त्तमान रहकर भी मुझमें ही रहता है। ३१।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन, जो सुख हो या दुःख सब जगह सबको अपनी ही तरह समभाव से देखता है, वह श्रेष्ठ योगी माना गया है। ३२।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुन ने कहा—मधुसूदन आपने जो साम्य-योग बताया, उसकी स्थिति को मैं मन के चचल होने के कारण स्थिर नही देखता। ३३।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

कृष्ण, मन निश्चय ही शरीर और इन्द्रियों को विह्वल करने वाला और बलवान मन चंचल है। इसका रोकना मुझे उतना ही कठिन मालूम होता है, जिस तरह वायु को रोकना । ३४ ।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्री भगवान् ने कहा—महाबाहो, इसमें संदेह नहीं, मन कठिनाई से वश में आने वाला और बड़ा चंचल है; परन्तु हे कौन्तेय, वह अभ्यास और वैराग्य से काबू में आ सकता है । ३५ ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

मेरे मत में असंयत आत्माओं के लिए योग की प्राप्ति बहुत कठिन है, परन्तु जितेन्द्रिय तथा यत्नशील को वह उपाय से सिद्ध हो सकता है । ३६ ।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन ने कहा—कृष्ण, जो श्रद्धावान् भली प्रकार यत्न न करने के कारण योग से चलायमान हो जाय, वह योग-सिद्धि को न पाकर किस गति को पाता है ? । ३७ ।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

महाबाहो, वह ब्रह्म-मार्ग में विमूढ अप्रतिष्ठ व्यक्ति दोनों ओर भ्रष्ट होकर अलग हुए बादल के टुकड़े की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? ।३८।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

कृष्ण, आप ही मेरी इन सब शंकाओं को पूर्णतया दूर कर सकते हैं। आपके सिवा दूसरा कोई इस शंका को दूर करने वाला नहीं दिखाई देता । ३९ ।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्री भगवान् ने कहा—पार्थ, इस लोक या परलोक में कहीं भी योग-भ्रष्ट पुरुष का नाश नहीं होता । तात, शुभ कर्म करने वाला कोई भी पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।४० ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योग भ्रष्ट पुरुष पुण्य कामियों के लोक में पहुंचकर तथा वहां बहुत वर्ष तक रहकर पवित्र धनियों के घर में जन्म लेता है । ४१ ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा वह धीमान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है । इस लोक में इस तरह का जन्म दुर्लभ है । ४२ ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

कुरुनन्दन, वह योगियों के कुल में जन्म लेकर पहली देह में अभ्यास किये हुए बुद्धि-संयोग को पाकर फिर भी सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है । ४३ ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पूर्वाभ्यास के कारण वह अपने-आप अवश होकर उसी ओर खिंचता

है। योग का जिज्ञासु वेद में कहे कर्म-फल से भी विशेष फल पाता है। ४४।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अत्यन्त यत्न से योगाभ्यास करने वाला, पाप रहित योगी अनेक जन्मों में किये गए प्रयत्नो-पुण्यों के द्वारा सिद्धि पाकर परम-गति प्राप्त करता है। ४५।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

अर्जुन, कर्मयोगी तपस्वियों से, ज्ञानियों से और कर्म-काण्डियों से भी अधिक माना गया है, इसलिए तू कर्मयोगी बन। ४६।

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सब योगियों में भी जो अन्तरात्मा से मुझमें लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, वह मेरे मन में सर्वश्रेष्ठ है। ४७।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

: ७ :

ज्ञान-विज्ञान-योग

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

अर्जुन, मुझमें चित्त लगाकर और मेरा ही आश्रय लेकर योगाभ्यास करते हुए तू जिस प्रकार पूरी तरह मुझे जानेगा, उसे सुन। १।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

अर्जुन, जलों में मैं रस हूं, चन्द्र-सूर्य में कान्ति हूं, सब वेदों में ओंकार, आकाश मे शब्द और मनुष्यो में पौरुष मैं हूं । ८ ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पृथ्वी मे पवित्र गंध मैं हूं, अग्नि में तेज मैं हूं, सब प्राणियों में जीवन और तपस्वियों मे तप मैं हूं । ९ ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

पार्थ, मुझे ही सब प्राणियों का सनातन बीज जान । मैं बुद्धिमानों में बुद्धि और तेजस्वियों में तेज रूप हूं । १० ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलवानों में काम रहित बल मैं हूं । प्राणियो मे धर्म के साथ विरोध न करने वाला काम मैं हूं । ११ ।

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव है, वे सब मुझसे ही प्रवृत्त हुए हैं । मैं उनमें नही हूं, वे मुझमें हैं । १२ ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन तीन प्रकार के भावों से मोहित हुआ यह सब जगत् इनसे परे मुझ अव्यय को नही जानता । १३ ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी यह दैवी और गुणमयी माया कठिनता से तरी जाती है । जो

मेरी प्रपत्ति मानते हैं, वे ही इस माया को तरते हैं। १४।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

मूढ़, दुष्कर्मी, नराधम, जिनका ज्ञान माया ने हर लिया है और जो आसुरी स्वभाव के आश्रित होकर मेरी प्रपत्ति नहीं मानते। १५।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

अर्जुन, चार प्रकार के सुकृती मेरा भजन करते हैं। आर्त, जिज्ञासु, भोगेच्छु और ज्ञानी। १६।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

इन चारों में नित्य युक्त एक भक्ति वाला ज्ञानी श्रेष्ठ है। ज्ञानी को मैं बहुत प्यारा हूं और वह मुझे प्यारा है। १७।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ये सब-के-सब (चारों) उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी मेरी आत्मा है—ऐसा मेरा मत है। वह युक्तात्मा मेरी सर्वोत्तम गति में आश्रित है। १८।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मों के बीतने पर ज्ञानी मुझको प्राप्त होता है। वह सब कुछ वासुदेव ही है—यह जानने वाला महात्मा दुर्लभ होता है। १९।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अनेक कामनाओं से हरे हुए ज्ञान वाले वे सब अपनी प्रकृति के अधीन होकर उन देवताओं के पूजा-सम्बन्धी नियमों का आश्रय लेकर अनेक देवताओं का भजन करते हैं। २०।

योयो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

भक्तगण जिस-जिस देवता की मूर्त्ति को श्रद्धा से पूजने की इच्छा रखते हैं, उस-उस भक्त की श्रद्धा को उसी देवता में दृढ़ करता हूं । २१ ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

वह भक्त उसी श्रद्धा से युक्त होकर उन्हीं देवताओं के आराधन की इच्छा करता है और उससे मेरी ही दी हुई मनोकामनाओं को पूरा करता है । २२ ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

इन अल्प बुद्धियों को जो फल मिलता है, वह नाशवान है । देवताओं की पूजा करने वाले देवताओं को और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं । २३ ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

निर्बुद्धि मुझे अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं । मेरे सर्वोत्तम अव्यय भाव को नहीं जानते । २४ ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम् ॥२५॥

योग माया से ढका हुआ मैं सबको प्रकाशित नहीं होता । मूढ़ पुरुष मेरे इस अजन्मा और अविनाशी रूप को नहीं जानते । २५ ।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

अर्जुन, मैं भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में होने वाले सब प्राणियों को जानता हूँ, पर मुझे कोई भी नहीं जानता । २६ ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

परंतप भारत, सब प्राणी उत्पन्न होने पर इच्छा-द्वेष से समुत्थित द्वन्द्वों से मोहित होते है। २७।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ॥२८॥

जिन पुण्य कर्मा पुरुषों के पाप नष्ट हो जाते है, वे द्वन्द्वों के मोह से छूटकर निश्चय से मेरा भजन करते हैं। २८।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्मचाखिलम् ॥२९॥

जो मनुष्य बुढ़ापे और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए मेरा आश्रय लेकर यत्न करते है, वे उस परमात्मा, आध्यात्म तथा समस्त कर्म को जानते हैं। २९।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मेरा चितन करते हैं, वे युक्तचेता मरण-काल में भी मुझे जानते है। ३०।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो
नाम सप्तमोऽध्याय. ॥७॥

८

अक्षर-ब्रह्म-योग

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अर्जुन बोलाः—हे पुरुषोत्तम, वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, और अधिभूत क्या कहा गया है तथा अधिदैव क्या कहा जाता है ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे मधुसूदन, यहां अधियज्ञ कौन है, इस शरीर में कैसे है और युक्त चित्तवाले पुरुषों द्वारा अंत समय में आप किस प्रकार जानने में आते हो ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

श्री भगवान् ने कहा :—अक्षर का परमब्रह्म और उसके स्वभाव जीवों के स्वरूप द्वारा प्रकट होने वाले (व्यक्त होने को) अध्यात्म कहते हैं, सब जगत् की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाले विसर्ग को कर्म कहते है । ३ ।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अर्जुन, नाशवान पदार्थों को अधिभूत कहते हैं, पुरुष को अधिदेव कहते है और अधियज्ञ मैं हूँ । ४ ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अंतकाल में मेरा ही स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़ता है, वह

मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं। ५।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

कौन्तेय, अन्तकाल में जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए मनुष्य शरीर छोड़ता है, उसी भाव से भावित होकर उसी भाव को प्राप्त होता है। ६।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्य संशयम् ॥७॥

इसलिए तू सदैव मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध कर। मुझमें मन, और बुद्धि को लगाने से मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें संदेह नहीं। ७।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अर्जुन, जो पुरुष निरन्तर योगाभ्यास द्वारा मन को दूसरी ओर न जाने देकर मेरा चिंतन करता है, वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है। ८।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो पुरुष अंतकाल में भक्ति और योग-बल द्वारा अचल मन से प्राणों को भली प्रकार दोनों भौंहों के बीच में स्थापित करके सर्वज्ञ, अनादि, सब पर अनुशासन करने वाले, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबका धारण करने वाले, अचिन्त्य रूप, सूर्य की तरह प्रकाशित, तप से परे

परमात्मा का स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है। ६-१०।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेद को जानने वाले जिसे अविनाशी कहते हैं, राग-शून्य यती जिसमें प्रवेश करते हैं, ब्रह्मचारी जिसे पाने के लिए ब्रह्मचर्य रखते हैं; उस पद को मैं तुम्हें संक्षेप में बताऊंगा। ११।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

जो सब द्वारों (इन्द्रियों) का संयम करके, मन को हृदय में रोककर, अपने प्राण वायु को अपने मस्तक में चढ़ाकर स्थित होता है और योग धारण करता है। १२

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

जो ब्रह्म-वाचक ॐ अक्षर का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ अपनी देह छोड़ता है, वह उत्तम पद को प्राप्त होता है। १३।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

पार्थ, जो योगी अनन्य भाव से नित्य मेरा स्मरण करता है और जो नित्य युक्त है, उसको मैं सहज में ही प्राप्त होता हूं। १४।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

परम सिद्धि को पहुंचे हुए महात्मा मुझे पाकर दुःखों के स्थान और अनित्य को नहीं पाते। १५।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अर्जुन, ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक हैं, वे सब उत्पत्ति और विनाश-शील है । कौन्तेय, मुझमे मिल जाने पर फिर पुनर्जन्म नही होता । १६ ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

चारो युगो के हजार बार वीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है और इतने ही समय मे ब्रह्म-रात्रि होती है । इसको जो जानते है, वे लोग दिन-रात के ज्ञाता है । १७ ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वा. प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ॥१८॥

ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होने पर अव्यक्त से सव व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है और उसकी रात्रि होते ही वे ही प्राणी उसके उसी अव्यक्त स्वरूप मे लीन हो जाते हैं । १८ ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमें ॥१९॥

अर्जुन, यह सब चराचर जगत् समुदाय विवश बार-बार पैदा होकर रात्रि होते ही वश हो जाता है और दिन के निकलते ही फिर पैदा होता है । १९ ।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु, न विनश्यति ॥२०॥

सब प्राणियों का नाश होने पर भी जो नष्ट नहीं होता, वह अव्यक्त से भी अन्य अव्यक्त सनातन-भाव दूसरा इससे भी परे है ।२० ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अव्यक्त भाव को ही अक्षर कहते हैं, उसी को परम गति कहते हैं, जहां पहुंचकर वापस नहीं आना पड़ता, वही मेरा परम-धाम है । २१ ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

पार्थ, जिसके भीतर ये प्राणी भरे हुए हैं और जिससे यह सब जगत् प्राप्त हुआ है; वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है। २२।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

भरत-श्रेष्ठ, योगी जिस समय मरने पर फिर जन्म नहीं पाते और जिस समय मरकर फिर जन्म पाते हैं, वह समय तुझे बताता हूं । २३ ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः महीनों में जिनकी मृत्यु हो, वे ब्रह्म ज्ञानी जन ब्रह्म में जा मिलते हैं । २४ ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

धुंआ, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः महीनों में से किसी मे मरने वाला योगी चन्द्रलोक के सुख भोगकर फिर लौट आता है । २५ ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

सदा से इस जगत की शुक्ल और कृष्ण पक्ष की दो गतियां होती हैं। पहली गति से मोक्ष मिलती है, दूसरी से पुनर्जन्म। २६ ।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

अर्जुन, इन मार्गों को जानने वाला कोई भी योगी मोह नहीं पाता, इस कारण तू सर्वदा योग युक्त रह । २७ ।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इन सब बातों को पूर्ण रीति से जानने पर वेद, यज्ञ, तप और दान से जिस पुण्य-फल की प्राप्ति कही है, उससे भी अधिक ऊंचे और आद्य स्थान को वह योगी प्राप्त होता है । २८ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

: ९ :

राज-योग

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्री भगवान् ने कहा—तू मत्सरहीन है, इसलिए तुझे विज्ञान सहित सबसे अधिक गुप्त-ज्ञान बताता हूं, जिसे जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जायगा । १ ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा, गुह्यतम, अति उत्तम, पवित्र, प्रत्यक्ष फल रूप, धार्मिक, बड़ा सुख देने वाला और अविनाशी है । २ ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

परन्तप, इस धर्म में श्रद्धा न रखने वाले पुरुष मुझे न पाकर मृत्यु-

सार के मार्गों में फिरते रहते हैं । ३ ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मुझ अव्यक्त मूर्ति से यह सब जगत् व्याप्त है, सब प्राणी मुझ में हैं, मैं उनमें नहीं हूं । ४ ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

मेरा यह योग और ऐश्वर्य देख कि प्राणी मेरे में हैं भी नहीं, भूतों का पालन करने वाला मेरा आत्मा न तो भूतों में रहता है, न उनको धारण करता है । ५ ।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे सर्वगामी महान् वायु सदैव आकाश में रहती है, वैसे ही सब प्राणी मेरे में हैं—ऐसा जान । ६ ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

अर्जुन, सब प्राणी कल्प के अंत में मेरी प्रकृति में विलीन हो जाते हैं और कल्प के शुरू में मैं फिर उन्हीं की सृष्टि कर देता हूं । ७ ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

मैं अपनी प्रकृति के अनुसार सब प्राणियों का सृजन बार-बार करता हूं । यह सब प्राणी समुदाय उसी प्रकृति से विवश होकर बार-बार पैदा होता है । ८ ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

धनंजय, ये सब कर्म मुझे कर्म-बंधन में नहीं बांधते, क्योंकि मैं उन

कामों में लगे रहने पर भी उनसे असक्त और उदासीन की तरह बैठा रहता हूँ। ६।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अर्जुन, यह माया मेरी अध्यक्षता में सब चराचर को उत्पन्न करती है और इसी कारण से जगत्-चक्र घूमता रहता है। १०।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मेरे मनुष्य-देह का आश्रय लेने पर मूढ मेरी अवज्ञा करते हैं, वे यह नहीं जानते कि मैं सब प्राणियों का महेश्वर हूँ। ११।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

उनकी आशा, उनके कर्म और उनका ज्ञान व्यर्थ है, क्योंकि वे अचेत तथा मोहक राक्षसी और आसुरी प्रकृति का आश्रय लेते हैं। १२।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

अर्जुन, दैवी प्रकृति आश्रित महात्मा तो मुझे अविनाशी और सब प्राणियों का आदि जानकर अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं। १३।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

वे दृढ़ निश्चय से यत्न करते हुए सदैव मेरा कीर्त्तन करते, मुझे भक्तिपूर्वक नमस्कार करते तथा नित्य युक्त रीति से मेरी उपासना करते हैं। १४।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

और दूसरे ज्ञान-यज्ञ से मेरी उपासना करते हैं। उनमें मुझे सर्वतो-

मुख का पूजन कोई मेरे एक रूप की, कोई अलग-अलग रूपों की पूजा करते हैं। १५।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥१६॥

अग्निहोत्रादि श्रौत-यज्ञ, वैश्व-देवादिक स्मार्त्त-यज्ञ, स्वधा, औषधि, मंत्र, घृत, अग्नि, होम प्रायः मैं ही हूं। १६।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥१७॥

इस जगत् का पिता, माता, धाता, दादा, ज्ञेय, पवित्र ओंकार, ऋक् साम और यजुर्वेद मैं ही हूं। १७।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

गति, पति, प्रभु, साक्षी, निवास-स्थान, शरण देनेवाला, सुहृद्, उत्पत्ति, लय, नीध और बीज मैं ही हूं और मैं अव्यय हूं। १८।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥

अर्जुन, सूर्य रूप से धूप मैं ही देता, वर्षा भी मैं ही हूं, निगृहण और उत्सृजन भी मैं ही करता हूं। अमृत, मृत्यु और सत्-असत् भी मैं ही हूं। १९।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥

तीनों वेदों के जानने वाले, सोम पीने वाले, निष्पाप मनुष्य यज्ञों को इष्ट मानकर मुझसे स्वर्ग की प्रार्थना करते हैं, वे स्वर्ग में पहुंचकर अपने पुण्यों के फलस्वरूप देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं। २०।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतंकामकामा लभन्ते ॥२१॥

पुण्य क्षीण हो जाने पर वे उस विशाल स्वर्ग-लोक का सुख भोग-कर फिर मृत्युलोक में आते है। तीनो वेदो मे बतलाये हुए धर्म में अनुष्ठित्त कामकामी लोग इस तरह आवागमन को प्राप्त होते हैं। २१।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो लोग अनन्य चिन्तन के साथ मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य-युक्तों का योग-क्षेम मैं चलाता हूं। २२।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

अर्जुन, जो भक्तगण श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओ की पूजा करते हैं, वे भी अवैधरूप से मेरी ही पूजा करते हैं। २३।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

मैं ही सब यज्ञो को भोगने वाला और स्वामी हूं जो मुझे अच्छी तरह नही जानते, वे तत्त्व से च्युत्त हो जाते है। २४।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यांतिमद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओं की उपासना करने वाले देवलोक मे पितरों की उपासना करने वाले पितृलोक में, भूतों की पूजा करने वाले भूतो में और मेरी पूजा करने वाले मुझमें जाते हैं। २५।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो कोई प्रयतात्मा भक्ति द्वारा मुझे फूल, पत्ता, जल जो कुछ

दाता हैं, उस भक्ति से चढ़ाये हुए को मैं स्वीकार करता हूं । २६ ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

अर्जुन, तू जो कुछ करे, जो कुछ खावे, हवन करे, दान और तप करे, वह सब मेरे अर्पण कर । २७ ।

शुभाशुभफलैरेव मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

ऐसा करने से शुभाशुभ फल देने वाले कर्म-बंधन से तुझे मुक्ति मिलेगी और तू संन्यास-योग मे मुक्तात्मा तथा कर्म-बंधन से मुक्त होकर मुझमें आ मिलेगा । २८ ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

सब प्राणियो को मै एक-सा हूं । न कोई मेरा शत्रु है, न मित्र । जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमे हूं । २९ ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भजन करेगा, तो उसको भी साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि उसका निश्चय ठीक है । ३० ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

अर्जुन, मेरा भक्त शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है, निरन्तर शांति पाता है; यह निश्चय जान कि वह कभी नष्ट नहीं होता । ३१ ।

मां हि पार्थव्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

पार्थ, स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा जो पापयोनि हैं, वे भी मेरा आश्रय लेने पर परमगति को पाते हैं । ३२ ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखंलोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर भक्त और पुण्यवान ब्राह्मणों और राजर्षियों का तो कहना ही क्या ? इस अनित्य और असुखी लोक मे आकर तू मेरा भजन कर । ३३ ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

अर्जुन, तू मेरे मन में अपना मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर, मुझे नमस्कार कर, युक्त रूप से मत्परायणात्मा होकर तू मुझमें आ मिलेगा । ३४ ।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या-
राज-गुह्ययोगो नाम नवमोध्यायः ॥९॥

: १० :

विभूति-योग

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्री भगवान् बोले.—अर्जुन मेरी एक उत्तम बात फिर सुन, जिसे मैं तुम्हे खुश करने तथा तुम्हारे भले के लिए कहता हूं । १ ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

मेरी उत्पत्ति को न तो देवता जानते हैं, न महर्षि; क्योंकि मैं सब देवताओं और महर्षियों का आदि हूं । २ ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मुझे अजन्मा, अनादि, लोकों का महेश्वर जानता है, भक्तों में

वह ज्ञानी सब पापों से मुक्त हो जाता है । ३ ।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखंदुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।४।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।५।।

सब प्राणियों में तरह-तरह के बुद्धि, ज्ञान, स्नेह हीनता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयशादि जो भाव पाये जाते हैं, वे मुझसे ही निकले हुए हैं । ४ । ५ ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।६।।

प्राचीन सप्त महर्षि और चार मनु जिनसे उन सब लोकों और प्रजा का विस्तार हुआ, मेरे से हुए तथा मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं । ६ ।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।७।।

जो तत्त्व से मेरी इस सब विभूति और योग को जानता है, वह अविचल योग में जुटता है, इसमें संदेह नहीं । ७ ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।८।।

मैं ही सबका उत्पन्न करने वाला हूं, सब मुझसे ही प्रवृत्त होता है, यह जानकर ज्ञानी लोक श्रद्धा-विश्वास के साथ मेरा भजन करते हैं । ८ ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।९।।

वे मुझमें चित्त लगाते हैं, उनके प्राण भी मुझी में लग जाते हैं, एक-दूसरे से मेरे विषय का बोध करते हुए, मेरा कीर्तन करते हुए सदैव संतोष और आनन्द पाते हैं । ९ ।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

इन सदा युक्त तथा प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करने वाले को मैं बुद्धि-योग देता हूं, जिससे वे मेरे में जाकर मिल जाते हैं । १० ।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

उन्हीं पर कृपा करके उनकी आत्मा में बैठा हुआ मैं जगमगाते ज्ञान-दीपक से उनके अज्ञानोत्पन्न अंधकार को दूर करता हूं । ११ ।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

अर्जुन ने कहा—आप परंब्रह्म, परमधाम, परम पवित्र, शाश्वत दिव्य पुरुष, आदि देव, अजन्मा और सर्व व्यापी हो । १२ ।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

सब ऋषि, देवर्षि, नारद, असित, देवल, व्यास इत्यादि और स्वयं आप भी यही कहते हैं कि आप ऐसे हो । १३ ।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

केशव, आप जो कहते हैं, वह सब मैं सच मानता हूं । भगवन्, आपके स्वरूप को न देवता जानते हैं न दानव । १४ ।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

पुरुषोत्तम, भूतभावन, भूतेश, देवाधिदेव, जगतपते आप अपने को अपनी ही आत्मा से जानते हो । १५ ।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

अपनी उन सम्पूर्ण दिव्य विभूतियो का वर्णन कीजिए, जिनसे आप कुल जगत् को व्याप्त किये हो । १६ ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

योगिन, आपका सदैव चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे जानूं ? भगवन्, मैं आपका चिंतन किन-किन भावों मे करूँ ? । १७ ।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

जनार्दन, अपने योग और विभूति मुझे फिर विस्तार से सुनाइये, क्योकि आपके अमृतवत् मीठे वचन बार-बार सुनने पर भी जी नहीं भरता । १८ ।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्री भगवान् ने कहा :—अर्जुन, अच्छा मैं तुझे अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियों को बताता हूं, क्योकि मेरी विभूतियों का अंत नहीं है । १९ ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

गुडाकेश, सब प्राणियों के भीतर रहने वाला आत्मा मैं हूं । सब प्राणियों का आदि, मध्य और अंत मैं हूं । २० ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यों में मैं विष्णु हूं, प्रकाशवानों में किरण वाला सूर्य मैं हूं मरुद्गणों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूं । २१ ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।।२२।।

वेदो में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों में चेतना मैं हूं । २२ ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुःशिखरिणामहम् ।।२३।।

रुद्रों में शंकर, यक्ष और राक्षसों मे कुबेर, वसुओं मे अग्नि, पहाड़ों की चोटियों में मेरु मैं हूं । २३ ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीमहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।।२४।।

अर्जुन, पुरोहितों मे मुख्य बृहस्पति मुझे ही जान । सेनापतियों में स्कन्द हूं और जलाशयों मे सागर । २४ ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।।२५।।

महर्षियों में भृगु, वाणी मे एक अक्षर ॐ मैं हूं. यज्ञो में जप यज्ञ मैं हूं, अचलो मे हिमाचल मैं हूं । २५ ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनि. ।।२६।।

सब वृक्षो मे अश्वत्थ (पीपल), देवर्षियों मे नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धों मे कपिल मुनि मैं हूं । २६ ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।।२७।।

घोड़ों में मैं अमृतोत्पन्न उच्चैःश्रवा घोड़ा हूं, गजेन्द्रों में ऐरावत और नरों मे राजा मैं हूं । २७ ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्प. सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।२८।।

आयुधों मे वज्र, गायों मे कामधेनु, प्रजा उत्पन्न करने में काम-देव

और सर्पों मे वासुकि मैं हूं। २८।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागों मे अनन्त, जल देवताओं मे वरुण, पितरों मे अर्यमा नाम का पितर और नियमन करने (शासन-रोकने) वालों मे यम मैं हूं। २९।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्यों मे प्रह्लाद, गिनती करने वालो में काल, पशुओं मे सिंह और पक्षियों में गरुड मैं हूं। ३०।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवित्र करने वालो में वायु, शस्त्रधारियों में राम, जल-जीवो में मगर और नदियों में गंगा मैं हूं। ३१।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अर्जुन, सृष्टि-पदार्थों मे आदि, मध्य, अन्त मैं हूं, विद्याओं में आत्म-विद्या और वाक्-पटुओं का वाद-विवाद भी मैं हूं। ३२।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षरों मे अकार, समासों में द्वन्द्व समास, अक्षयकाल तथा जगत् का पालन करने वाला मैं हूं। मेरा मुख चारों तरफ है। ३३।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिःश्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबका हरण करने वाली मृत्यु मैं हूं, उत्पन्न होने वाले प्राणियों का भाग मैं हूं। स्त्री लिंगी विभूतियों मे कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, धीरज और क्षमा मैं हूं। ३४।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सामों की स्तुति में बृहत्साम, छंदों में गायत्री, मासों में अगहन मास और ऋतुओं में वसंत ऋतु मैं हूं । ३५ ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

छलों में जुआ, तेजस्वियों में तेज, जय और व्यवसाय-सात्त्विकों का सत्व मैं हूं । वृष्णियों में वासुदेव, पाण्डवों में अर्जुन मुनियों में व्यास और कवियों में शुक्र कवि मैं हूं । ३६-३७ ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दण्ड देने वालों में दण्ड, जय चाहने वालों की राजनीति, गुह्य-बातों में मौन और ज्ञानवानों का ज्ञान मैं हूं । ३८ ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

अर्जुन, सब प्राणियों में जो बीज रूप है, वह मैं हूं । चराचर प्राणियों में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो मुझसे न हो । ३९ ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

परंतप, मेरी ईश्वरीय विभूतियों का अंत नहीं है विभूतियों का यह विस्तार तो मैंने तुम्हें दृष्टान्त के तौर पर बताया है । ४० ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

अर्जुन, जो कोई प्रतापी, लक्ष्मीवान्, पराक्रमी प्राणी है, उसे तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न जान । ४१ ।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा अर्जुन, तुझको ये बहुत बातें जानने से क्या मतलब ? मैंने केवल अपने एक अंश से इस सम्पन्न जगत् को स्थापित किया हुआ है । ४२ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम
दशमोऽध्यायः ॥१०॥

: ११ :

विश्वरूप-दर्शन-योग

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन ने कहा :—आपने मुझ पर दया करके सबसे गुह्य जो आध्यात्म उपदेश दिया, उससे मेरा मोह दूर हो गया । १ ।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

मैंने आपसे प्राणियों की उत्पत्ति और नाश का कारण विस्तार से सुना और यह भी सुना कि आपकी महिमा अविनाशी है । २ ।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

आपने अपने विषय में जैसा कहा वैसा ही है, परन्तु पुरुषोत्तम मैं आपका ईश्वरीय रूप देखना चाहता हूं । ३ ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

प्रभो, यदि आप समझते हों कि मैं उसे देख सकता हूं, तो योगेश्वर,

अपना वह अविनाशी रूप मुझे दिखाइए । ४ ।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्री भगवान ने कहा :—पार्थ, मेरे सैकड़ों-सहस्रों प्रकार के, अनेक वर्णों और आकारों के अलौकिक रूपों को देखो । ५ ।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

भारत, आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनी-कुमार, मरुत तथा पहले कभी न देखे हो, वैसे अद्भुत चमत्कारों को देखो । ६ ।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

गुडाकेश, चराचर सहित, यह सब जगत तथा तू जो कुछ और देखना चाहता हो, वह सब आज मेरी देह में एक जगह देख । ७ ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

तू मुझे अपनी आंखों से नहीं देख सकेगा, इसलिए मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूं । तू मेरी ईश्वरीय शक्ति को देख । ८ ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय बोला :—राजन्, महायोगेश्वर श्रीकृष्ण ने ऐसा कहकर अर्जुन को अपना परम श्रेष्ठ विश्व-रूप दिखाया । ९ ।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

जिसमें अनेक मुख और आंखें, अनेक अद्भुत दर्शन, अनेक ईश्वरीय आभूषण और अनेक शस्त्र थे । १० ।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

जिन पर दिव्य माला और वस्त्र थे, जिस पर दिव्य सुगन्धित पदार्थ लगे थे, ऐसे सब आश्चर्यों से भरे हुए सर्वतोमुखी ईश्वर को अर्जुन ने देखा । ११ ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

यदि आकाश मे एक हजार सूर्यों की ज्योति एक साथ हो, तो कदाचित् थोड़ी-सी उस विश्व के रूप के समान होगी । १२ ।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

उस समय अर्जुन ने देखा कि उस देवादिदेव के शरीर में सब जगत् एक ही जगह एकत्र है और वह नाना प्रकार से विभाजित है । १३ ।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

वहां अर्जुन ने आश्चर्य-चकित और रोमांचित होकर श्रीकृष्ण को शिर से प्रणाम करके तथा हाथ जोडकर कहा— । १४ ।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेष संघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

देव, आपके शरीर में मुझे सब देवता तथा सब प्रकार के प्राणियों के समूह, कमलासनस्थ ब्रह्म और ईश्वर, सब ऋषि-जन और दिव्य सर्प दीखते हैं । १५ ।

अनेकबाहूदर वक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

विश्वेश्वर, विश्वरूप, आपके अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्र हैं और सब तरफ से आपके अनंत रूप हैं, परन्तु आपका मूल, मध्य और अंत कहां है, यह मुझे नहीं दीखता । १६ ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मैं देखता हूं कि आपके सिर पर करीट हैं, हाथों गदा और चक्र है, आप सब तरह से तेज-पुंज और प्रदीप्त अग्नि, तथा सूर्य के प्रकाश की तरह देदीप्यमान हैं, न आप नापे जा सकते हैं, न पूर्णरूप से देखे जा सकते हैं । १७ ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

मेरे मत में जानने योग्य परम अक्षर आप हैं । इस विश्व के आधार-स्तम्भ आप हैं । आप अविनाशी और सनातन और शाश्वत धर्म के रक्षक हो । १८ ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

आपका मूल, मध्य, और अंत नहीं है, आपकी शक्ति अनंत है, हाथ

अनंत हैं, चांद-सूरज आपकी आंखें हैं, प्रज्वलित अग्नि के समान आपका मुख है, अपने तेज से आप इस विश्व को तपाते हो। १६।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

महात्मन्, आप अकेले ने आकाश और पृथ्वी के बीच के अंतर को घेर रखा है। आपका यह अद्‌भुत उग्र रूप देखकर यह त्रैलोक्य व्यथित हो रहा है। २०।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

देवताओं के समूह आपके स्वरूप में घुस रहे हैं और कई एक हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों के समुदाय भांति-भांति की स्तुतियों से आपकी स्तुति कर रहे हैं। २१।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, अश्विनीकुमार, मरुत, पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह-के-समूह विस्मय से आपके रूप को देख रहे हैं। २२।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

महाबाहो, आपका स्वरूप, बहुत से मुख, नेत्र, हाथ, जांघ, पांव, पेट, दाढ़े होने के कारण विकराल है, मैं और सब लोग उसे देखकर

भयभीत हो गए हैं। २३।

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

विष्णु, आप पृथ्वी से आकाश तक लगे हुए हो, प्रकाशवान हो, अनेक वर्णों के हो। आपका मुंह फैला हुआ है, आपकी आंखें विशाल और सतेज हैं। आपके इस रूप को देखकर मेरी अंतरात्मा व्यथित है, धीरज छूट रहा है और मुझे शांति भी नहीं मिलती। २४।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

देवेश, जगन्निवास, प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रदीप्त भयंकर डाढ़ों वाले आपके मुखों को देखकर मैं दिशा भूल गया हूं, मुझे आराम नहीं मालूम देता, इसलिए आप मुझ पर कृपा करें। २५।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यै. ॥२६॥

धृतराष्ट्र के सब पुत्र अपने पक्षपाती सब राजाओं के साथ, भीष्म, द्रोण, कर्ण, हमारे मुख्य-मुख्य योद्धाओं के साथ—। २६।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

आपके भयानक डाढों वाले मुख में तेजी से घुस रहे हैं, आपके दांतों

और आपकी डाढों के बीच में पड जाने के कारण उनमें से कई के मस्तकों का चूरा हुआ मुझे दीख रहा है। २७।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोक वीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियों के बड़े-बडे प्रवाह समुद्र की ओर दौडते हैं, उसी तरह मृत्यु-लोक के ये वीर आपके प्रज्वलित मुखों में घुस रहे है। २८।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे प्रज्वलित अग्नि में पतंगे अपने नाश के लिए बड़े वेग से घुसते हैं, वैसे ही सब लोग आपके मुखो में नाश पाने को जोर से घुस रहे हैं। २९।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

विष्णु, सब तरफ से जलते हुए मुखों से सब लोकों को मजबूत पकड़े हुए आप वारम्बार अपनी जीभ चाट रहे हो। आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को आपके तेज से तपा रहा है। ३०।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

प्रभु, आपको नमस्कार हो, देववर आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो ओ,

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय ने कहाः—श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर अर्जुन थर-थर कांपता हुआ, हाथ जोड़कर डरता हुआ श्रीकृष्ण को फिर से प्रणाम करके बोलाः—। ३५ ।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघा ॥३६॥

हृषीकेश, आपकी विशेष कीर्त्ति से सब जगत् आनंदित और अनुरंजित हो रहा है ! राक्षस गण डरे हुए सब दिशाओं में भाग रहे हैं । सब सिद्धों के समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं । यह सब उचित ही है । ३६ ।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्तदेवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

महात्मन्, अनंत, देवेश, जगन्निवास आप श्रेष्ठ हो, ब्रह्मा के भी उत्पन्न कर्त्ता हो, फिर वे सब आपको नमस्कार क्यों न करेंगे, आप सत्-असत् से परे अविनाशी हो । ३७ ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदिदेव, पुराण-पुरुष, विश्व के लय स्थान, ज्ञाता, ज्ञेय और

परम धाम हो। अनंत रूप आपसे ही अखिल विश्व व्याप्त है। ३८।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३६॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्त वीर्या मित विक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

सर्व स्वरूप परमेश्वर, आपको आपके मुख की ओर से, पीठ की ओर से, सब ओर से नमस्कार है। आपको शक्ति और पराक्रम का अंत नहीं है। आप सर्वत्र व्याप्त हैं,इसलिए सर्व स्वरूप हो। ३६-४०।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मयाप्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

आपकी महिमा को न जानकर प्रमाद या प्रीति के कारण मैंने आपको अपना सखा जानकर जो छेड़-छाड़ की है, कृष्ण, यादव, सखा इत्यादि जो कुछ कहा हो। ४१।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि-
विहार शय्यासन भोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अच्युत, खेलने में, सोने में, बैठने में, भोजन करने में, आपके सामने या अकेले में, हंसी में आपका जो अपमान हुआ हो, उसके लिए मैं आप अप्रमेय से क्षमा-प्रार्थना करता हूं। ४२।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिम प्रभाव ॥४३॥

आप अनुपमेय हैं, चराचर जगत् के पिता हैं, श्रेष्ठ, पूज्य और गुरु हैं। तीनों लोक में आपके समान कोई नहीं है, इसलिए आपसे बढ़कर कौन होगा ? । ४३ ।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

आपको साष्टाङ्ग प्रणाम करके मैं प्रार्थना करता हूं कि हे स्तुत्य ईश, मेरे ऊपर प्रसन्न होओ ! मेरे अपराध क्षमा करो; जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के, प्यारा प्यारों के अपराध क्षमा करता है । ४४ ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

देवेश, जगन्निवास, आपका अदृष्ट पूर्व रूप देखकर मुझे हर्ष हुआ है। और डर से मेरा मन भी व्यथित हुआ है; इसलिए देव प्रसन्न होकर मुझे वही पूर्व रूप दिखलाओ । ४५ ।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

सहस्रबाहो, विश्वमूर्त्ते, आपको मुकट पहने हुए, हाथ में गदा-चक्र लिये देखने की मेरी इच्छा है; इसलिए आप अपना चतुर्भुज स्वरूप

धारण कीजिए। ४६।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मेत्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्री भगवान् बोले —अर्जुन मैंने प्रसन्न होकर तुझे आत्म-योग से जो रूप दिखाया है,वह दूसरे किसी ने तुमसे पहले नहीं देखा वह तेजोमय और अनंत विश्व का आदि है। ४७।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्नच क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपःशक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥४८॥

कुरुश्रेष्ठ, मृत्यु लोक में तेरे सिवा किसी दूसरे को मेरा यह विश्व-रूप वेदाध्ययन से, यज्ञों से, दानो से, कर्मों से और उग्र तपों से भी नही दीख सका। ४८।

मा ते व्यथा मा च विमूढ भावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

अर्जुन, मेरा यह घोर रूप देखकर तू न तो डर, न घबडा। भय छोड़कर प्रसन्न मन से फिर मेरा वही रूप देख। ४९।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय ने कहा :—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ऐसा कहकर फिर अपना निजी रूप दिखाया और फिर सौम्य रूप होकर डरे हुए मन वाले को

शांत किया । ५० ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोला :—जनार्दन, आपका यह सौम्य मानवी रूप देखकर मैं सचेत होकर प्रकृतिस्थ हुआ हूं । ५१ ।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्री भगवान् ने कहा:—मेरा जो सुदुर्दर्श रूप देखा है, देवता उसे देखने की नित्य इच्छा रखते हैं । ५२ ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

मुझको जैसे तुमने देखा है, वैसे देखने की सामर्थ्य किसी में वेदाध्ययन, तप, दान या यज्ञ से भी नहीं हो सकती । ५३ ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परंतप अर्जुन, मेरे इस विश्व-रूप को देखने, जानने, तत्त्व से और उसमें प्रविष्ट होने का एक ही साधन है और वह साधन है, अनन्य भक्ति । ५४ ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

अर्जुन, जो मेरे लिए कर्म करने वाला हो, मुझमें परायण हो, या भक्तिमय हो, आसक्ति छोड़ दे, सब प्राणियों में वैर छोड़ दे, वह मुझे पाता है । ५५ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगोनामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

: १२ :

भक्ति-योग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोलेः—इस प्रकार सतत युक्त जो भक्त आपकी (सगुण) उपासना करते है और जो अविनाशी निराकार की उपासना करते हैं, उनमें उत्तम योगज्ञ कौन है ? । १ ।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्री भगवान् ने कहा—मुझमें मन लगाकर जो नित्य युक्त अत्युच्च श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे उत्तम भक्त हैं; ऐसा मैं मानता हूं । २ ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

जो अक्षर, अवर्णनीय, अव्यक्त, सर्व व्यापी, अचिंत्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव की उपासना करते हैं, सब इंद्रियों को वश मे करके और सर्वत्र सम-बुद्धि रखकर तथा सर्व प्राणियों की भलाई मे निरत रहकर वे मुझे ही पाते हैं । ३ । ४ ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अव्यक्त (निराकार) मे आसक्त चित्त वालो को कष्ट अधिक होता है क्योंकि देही अव्यक्त गति को बड़े दुःख से पाती है । ५ ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

जो सब कर्मों को मुझे अर्पण करके और मम परायण होकर अनन्य योग से मेरा ध्यान और मेरी उपासना करते है, । ६ ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

मुझमें चित्त लगाये हुए लोगों को मुक्ति-संसार-सागरसे मैं शीघ्र ही र देता हूं । ७ ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

मुझ में ही मन लगा, मुझमे ही बुद्धि को लगा । (ऐसा करने से) तू मुझमे ही निवास करेगा; इसमें संदेह नहीं है । ८ ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

धनंजय, यदि मुझमें स्थिरता से चित्त न लगा सके, तो अभ्यास-योग से मुझे पाने की इच्छा कर । ९ ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अभ्यास करने मे भी असमर्थ हो, तो मेरे लिए कर्म कर, मेरे लिए कर्म करते हुए भी तू सिद्धि पा लेगा । १० ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

यदि मेरे योग का आसरा लेकर वह भी न कर सके तो यतात्मा होकर सब कर्मों के फलो का त्याग कर । ११ ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान मे ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्म-

फल का त्याग श्रेष्ठ है, (कर्म-फल) त्याग से तुरंत शांति मिलती है। १२।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखःक्षमी ॥१३॥
संतुष्टःसततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय.।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता सबका मित्र है; दयालु, अहंकार रहित, ममता रहित, सुख-दु:ख में समान और क्षमावान, सदा संतुष्ट, योगी, यतात्मा, दृढ निश्चयी और मन तथा भक्ति मुझमें अर्पित किये हुए है, वह भक्त मुझे प्रिय है। १३-१४।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रिय ॥१५॥

जिससे लोगों को उद्वेग नहीं होता और न जिसको लोगों से उद्वेग होता है और जो हर्ष, क्रोध और भय के उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्यारा है। १५।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो निस्पृह, पवित्र, दक्ष, उदासीन, व्यथा रहित, तथा किसी भी फल की इच्छा नहीं रखता, वह भक्त मुझे प्यारा है। १६।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न खुश होता है, न द्वेष करता, न शोक, न आकांक्षा और जो शुभ-शुभ कर्मों के फल का त्याग करके मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है। १७।

सम. शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

जो शत्रु और मित्र से एक-सा बर्ताव करता है, मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख सबमें एक-सा रहता है तथा असक्ति हीन है। १८।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो निंदा-स्तुति में एक-सा मौनी, जो-कुछ मिल जाय, उसीसे संतुष्ट, किसी स्थान से आबद्ध नहीं और यों स्थिर मति है, वह मनुष्य मुझको प्यारा है। १९।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियः ॥२०॥

मुझमे श्रद्धा रखकर तथा मत्परायण होकर जो इस धर्म्मामृत को ऊपर कहे अनुसार उपासना करते हैं, वे मुझे प्यारे हैं। २०।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

: १३ :

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्री भगवान् ने कहाः—अर्जुन, इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो इसको जानता है, उसे तत्त्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

अर्जुन, मेरे मत में सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मैं हूं और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही ज्ञान है। २।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

वह क्षेत्र कौन है, किस प्रकार का है, उसमे कौन-कौन विकार हैं,

उसमें किससे क्या होता है, वह क्षेत्रज्ञ कौन है, उसका प्रभाव क्या है, यह संक्षेप में मुझसे सुन । ३ ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

यह ज्ञान ऋषियों ने बहुत प्रकार से गाया है, छंदों में पृथक्-पृथक् और ब्रह्म-सूत्र-पदो में भी सिद्धान्त निश्चय करने वालों ने कारण सहित उसका प्रतिपादन किया है । ४ ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पांच तन्मात्राएं, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात और चेतना इन विकारों के उदाहरण सहित संक्षेप मे मैं इसे क्षेत्र बताता हूं । ५-६ ।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अमानित्व, पाखण्ड-हीनता, अहिंसा, क्षांति, सरलता, आचार्योपासना, पवित्रता, स्थिरता, आत्म-निग्रह, इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य, अनहं-कार, जन्म-मृत्यु, बुढापा-बीमारी आदि दुःखों का विचार न करना, अना–

सक्ति (अति मिलाप न रखना) पुत्र-स्त्री-गृहादि में भला-बुरा कुछ भी होने पर सदैव समचित्त रहना, मुझमें, अनन्य योग वाली तथा अव्य-भिचारी भक्ति, एकांत का सेवन, जन-समूह से अप्रीति, अध्यात्म-ज्ञान में नित्यता, तत्त्व-ज्ञान का दर्शन, यह सब ज्ञान कहा जाता है; जो इसके विरुद्ध हो, वह अज्ञान है। ७-११।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

अर्जुन, अब ज्ञेय बताता हूं, जिसे जानने से अमरपद मिलता है। वह ज्ञेय अनादि, परब्रह्म है, जो न सत् है न असत्। १२।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

उसके हाथ, पांव, आंख, शिर, मुख और कान सब ओर हैं। वह उन सबको व्याप्त करके बैठा हुआ है। १३।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

वह सब इन्द्रियों से रहित है, (फिर भी) उसमें सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है। वह असक्त है, सबमें भरा हुआ या सबको धारण करने वाला है। निर्गुण है और गुणों का भोगने वाला भी है। १४।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह सब प्राणियों के भीतर भी है, बाहर भी है। अचल है, चलने वाला है, सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है, दूर भी है, नजदीक भी है। १५।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

अविभक्त होने पर भी प्राणियों की विभक्ति की तरह स्थित है। उसे सब प्राणियों का पालन, संहार और उत्पन्न करने वाला समझो। १६।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

प्रकाश देने वालों में भी प्रकाश वही है, वह अंधकार से परे कहा जाता है। सबके हृदयों में बैठा हुआ ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञानगम्य भी वही है। १७।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस तरह तुम्हें क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय तीनों संक्षेप से बताये गए हैं। मेरा भक्त इन्हें जानकर मद्भावाय हो जाता है। १८।

प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जान और विकारों तथा गुणों को प्रकृति से उत्पन्न जान। १९।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्यों (शरीर) के और कारणों (इन्द्रियों) के कर्तृत्व का हेतु प्रकृति कहलाती है। सुख-दुःख भोगने का हेतु पुरुष कहलाता है। २०।

पुरुप प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु ॥२१॥

पुरुप प्रकृतिस्थ होकर प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। जीवों के भले-बुरे जन्मों का कारण यही गुणों में आसक्ति है। २१।

उपद्रष्टानुमता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुपः परः ॥२२॥

अध्यक्ष, अनुमोदक, पोषणकर्त्ता, उपभोग करने वाला परमेश्वर जिसे परमात्मा कहते हैं, वह इसी देह में विद्यमान श्रेष्ठ पुरुष है। २२।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।२३।

जो पुरुष और प्रकृति को इस प्रकार गुणों के साथ जानता है, वह सर्वथा विद्यमान होने कर्म करने पर भी फिर जन्म नहीं लेता । २३ ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।२४।।

कोई ध्यान से अपने में ही आत्मा को देखते है । कोई सॉख्य शास्त्रानुसार तथा कोई कर्म योग-द्वारा । २४ ।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।२५।।

दूसरे, जिन्हें यह ज्ञान नहीं हैं; वे दूसरे से सुनकर उपासना करते हैं । ये श्रुति परायण लोग भी मृत्यु से तर जाते है । २५ ।

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।२६।।

अर्जुन, स्थावर या जंगमादि जितने प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से हुए हैं, ऐसा जान । २६ ।

समं सर्वेष भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२७।।

जो यह देखता है कि अविनाशी परमेश्वर समस्त नाशवान प्राणियों में समभाव से रहता है, वही देखता है । २७ ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८।।

जो सब जगह एक से रहते हुए ईश्वर को एक समान देखता है, तथा आत्मा से आत्मा को नहीं मारता, वह परम गति को प्राप्त होता है । २८ ।

प्रकृत्येव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
य पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

किये जाने वाले समस्त कर्म प्रकृति से ही किये जाते हैं, तथा आत्मा अकर्त्ता है; जो यह देखता है, वही देखता है । २९ ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जैसे सब प्राणियों के भिन्न-भिन्न भावों को एक परमेश्वर में स्थित देखता है, तथा सब संसार को उसी का विस्तार समझता है, तब वह ब्रह्म सम्पन्न होता है । ३० ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

अर्जुन, अनादि और निर्गुण अविनाशी परमात्मा शरीर मे रहते हुए न कुछ करता है, न कर्मों से लिप्त होता है । ३१ ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जैसे सर्वव्यापी सूक्ष्मता आकाश में लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र रहते हुए भी आत्मा उसमें लिप्त नही होता । ३२ ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

अर्जुन, जैसे इस समस्त लोक को अकेला सूर्य प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्रो को प्रकाश देता है । ३३ ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

जो ज्ञान-चक्षु से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का भेद और प्राणियों की प्रकृति से मोक्ष का रहस्य जानते हैं, वे परब्रह्म को प्राप्त होते है । ३४ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

: १४ :

गुणत्रय-विभाग-योग

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्री भगवान् ने कहाः—जिस ज्ञान को जानकर सब मुनिश्रेष्ठ सिद्ध गति को प्राप्त हुए थे, वह ज्ञानों मे उत्तम श्रेष्ठ ज्ञान फिर बताता हूँ ।१।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान के आश्रित होकर, मेरे साधर्म्य को पाकर न तो उत्पत्ति काल मे जन्म पाते हैं, न प्रलय-काल मे दुःख । २ ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

भारत महत्, ब्रह्म (प्रकृति) मेरी योनि है, जिसमें मैं गर्भ रखता हूं । उसीसे सब प्राणियो की फिर उत्पत्ति होती है । ३ ।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

कौन्तेय, सब योनियो में जो मूर्त्तियां जन्म लेती हैं, उनकी महत् योनि ब्रह्म है और मैं बीजप्रद पिता । ४ ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

महाबाहो, प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज, तम ये तीन गुण अविनाशी जीवन को देह में बांधते हैं । ५ ।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

अर्जुन, इनमें सत्व निर्मल, प्रकाशक और निर्दोष है, तथा सुख और

ज्ञान के संग से बांधता है । ६ ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

रज को प्रीति स्वरूप तथा तृष्णा संग से उत्पन्न जान । वह देही कर्मासक्ति से बांधता है । ७ ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

भारत, सब देहियों को मोह मे डालने वाला तम अज्ञान से उत्पन्न है, वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बांधता है । ८ ।

सत्त्व सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तम. प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

भारत, सत्व सुख में लगाता है, रज कर्म में और तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में लगाता है । ९ ।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रज: सत्त्वं तमश्चैव तम. सत्वं रजस्तथा ॥१०॥

भारत, सतो गुण, रज और तम इन दोनों को जीतकर होता है । इसी तरह रजोगुण सत् और तम को, तथा तमोगुण सत् और रज को जीतकर बढ़ता है । १० ।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

इस देह में जब सब इन्द्रियों में ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है, तब यह जानो कि सतोगुण बढ रहा है । ११ ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

भरत श्रेष्ठ, रजोगुण बढने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मारंभ अशान्ति और इच्छा ये उत्पन्न होते हैं । १२ ।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

कुरुनंदन, तमोगुण मे अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह भी बढ़ता है । १३ ।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तमोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

जब देहधारी सतोगुण बढने पर मरता है तब उत्तम और निर्मल लोकों में जाता है । १४ ।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिसु जायते ।
तथाप्रलीनस्तमसि मूढ़योनिपु जायते ॥१५॥

रजोगुण मे मरकर कर्मासक्तो मे जन्म लेता है तथा तमोगुण में मरकर मूढ योनियों मे जन्म पाता है । १५ ।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

कहते हैं कि सुकृतो का फल निर्मल और सात्विक होता है, रजोगुण का फल दुःख और तमोगुण का अज्ञान । १६ ।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह पैदा होता है । १७ ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सतोगुणी ऊपर को जाते हैं, रजोगुणी बीच में रहते हैं और जघन्य गुण वृत्तिस्थ तमोगुणी नीचे गिरते हैं । १८ ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब द्रष्टा जीव यह देखता है कि गुणों के अलावा दूसरा कोई कर्त्ता

नहीं है, और गुणों से भी श्रेष्ठ को जानता है, वह मुझे पाता है ।१९ ।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

देहोत्पन्न इन तीन गुणों से परे जाकर देही जन्म-मरण-बुढापे के दुःखो से छुटकारा पाकर अमरत्व का भोग करता है । २० ।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन बोलाः—प्रभो, इन तीनो गुणों से आगे चले जाने वाले के चिह्न कौन-से होते है, उसका आचार कैसा होता है और वह इन तीनो गुणों से आगे कैसे जाता है ? २१ ।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

श्री भगवान् ने कहाः—अर्जुन, जो प्रकाश प्रवृत्ति और मोह भी प्राप्त होने पर उनसे द्वेष नहीं करता और इनके निवृत्त होने पर इनकी चाह नहीं करता । २२ ।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

उदासीन की तरह बैठा हुआ जो गुणों से विचलित नहीं होता, जो यह जानकर कि गुण बरतते हैं–स्थिर रहता है, डिगता नहीं । २३ ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

जो सुख-दुःख मे एक समान, स्वस्थ, मिट्टी, पत्थर और सोने को एक-सा समझने वाला, प्रिय-अप्रिय को समान मानने वाला, धीर और निन्दा तथा स्तुति में एक-सा । २४ ।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जो मानापमान और शत्रु-मित्र पक्षों को एक सा और सब कर्मों के आरम्भ में ही उनकी फलासक्ति को छोड देता है, वह गुणातीत होता है । २५ ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो अव्यभिचारी भक्ति-योग से मेरी सेवा करता है, वह तीनों गुणों से अतीत होकर ब्रह्मरूप होने के योग्य होता है । २६ ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

निश्चय ही मैं अमृत, अव्यय और शाश्वत ब्रह्म तथा एकान्तिक धर्म और सुख का वास-स्थान हूं । २७ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभाग-
योगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

: १५ :

पुरुषोत्तम-योग

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्री भगवान् ने कहाः—कहते हैं, इस अश्वत्थ (संसार रूपी वृक्ष) की जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे । वेदों के छंद उसके पत्ते हैं, जो इसे जानता है, वह वेदवित् कहलाता है । १ ।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इसकी शाखाएँ ऊपर नीचे फैली हुई है, वे गुणों से बढ़ी हुई हैं, तथा विषयादि उनकी कोपल है। मनुष्य लोक-कर्मा से बंधे हुओं को नीचे कर्मरूपी जड़ें एक से एक फंसी हुई जकड़े रहती हैं। २।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते-
नान्तो न चादिर्न च संप्रनिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम
सङ्ग शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

इस लोक में इस (वृक्ष) का ऐसा रूप नहीं मिलता। न उसका अंत मिलता है न उसका आदि, न उसकी प्रतिष्ठा। इस मजबूत जड़ वाले वृक्ष को वैराग्य रूपी दृढ शस्त्र से काटकर। ३।

ततः पदंतत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्तिभूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुपं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

तब जिस पद को पाकर मनुष्य वापिस नहीं आते, उसी पर चलना चाहिए। उसी आदि पुरुष की प्रपत्ति करनी चाहिए, जिससे प्राचीन प्रवृत्ति फैली हुई है। ४।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्याविनिवृत्तकामा. ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

मान-मोह रहित, आसक्ति-दोष-विजयी, नित्य आत्म-ज्ञान में रत, कामना-हीन, सुख-दुःख नाम के द्वन्द्वो से मुक्त ज्ञानी उस शाश्वत पद को पाते हैं। ५।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

मेरा परमधाम वह है, जहां पहुंचने पर पुनरागमन नहीं होता। वहां सूर्य, चन्द्र, अग्नि का प्रकाश नहीं है। ६।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

जीवलोक मे मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृतिस्थ मन और पांच इन्द्रियो को खीचता रहता है। ७।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

जैसे हवा फूलो से सुगंध ले जाती है, वैसे ही यह जीव शरीर में घुसते या उससे निकलते हुए भी इन(मन और इन्द्रियो के सूक्ष्म तत्त्वों) को ग्रहण कर लेता है। ८।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

वह कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का अधिष्ठाता होकर विषयों का उपभोग करता है। ९।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनंपश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

इस जीव को देह से जाते हुए, देह में रहते, विषयों को भोगते हुए और गुणो से मुक्त होते हुए मूढ नही देख पाते, ज्ञान-चक्षु वाले देखते हैं। यत्न करने वाले योगी उसको अपनी आत्मा में स्थित देखते हैं। अकृतात्मन् अचेतस यत्न करने पर भी उसे नहीं देख पाते। १०। ११।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूर्य का जो तेज समस्त जगत को प्रकाशित करता है तथा चद्रमा और अग्नि में जो तेज है, उसे भी मेरा ही जान । १२ ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधी: सर्वा: सोमो भूत्वा रसात्मक: ॥१३॥

पृथिवी मे घुसकर मै अपनी चैतन्य शक्ति से सब प्राणियों को धारण करता हूं । रस रूपी चन्द्रमा बनकर सब वनस्पतियों का पोषण करता हूं । १३ ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित: ।
प्राणापानसमायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं ही जठराग्नि होकर, प्राणिओ की देह मे आश्रित होकर प्राण और अपान वायु को समायुक्त करके चतुर्विध अन्न पचाता हूं । १४ ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सबके हृदयों मे मैं ही बैठा हूं । मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा इन दोनों का अभाव है । सब वेदों का वेद भी मै ही हूं, तथा वेदान्त का कर्त्ता और वेदज्ञ भी मैं ही हूं । १५ ।

द्वाविमौपुरुषौलोकेक्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर:सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक मे क्षर और अक्षर दो ही पुरुष है । सब प्राणियों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को अक्षर । १६ ।

उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर: ॥१७॥

परमात्मा के नाम से पुकारा जाने वाला वह पुरुष दूसरा है, जो तीनों

लोकों में प्रवेश करके उनका पालन-पोषण करने वाला ईश्वर है। १७।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

जब कि मैं क्षरातीत तथा अक्षर से भी उत्तम हूं, इसीलिए इस लोक तथा वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं। १८।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तम।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

अर्जुन, जो ज्ञानी मुझको इस तरह पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ मुझे सर्व भावों से भजता है। १९।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

निष्पाप, यह गुह्यतम शास्त्र मैंने तुझे बताया। भारत, इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

: १६ :

दैवासुर सम्पत् विभाग-योग

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

श्री भगवान् बोलेः—भारत! निर्भयता, आत्म-शुद्धि, ज्ञान और योगमें

एकनिष्ठा, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणियों पर दया, अलोलुपता, नम्रता, लोक-लाज, जन-लज्जा, स्थिरता, तेज, क्षमा, धीरज, पवित्रता, द्रोह-हीनता, अति-मानवता का अभाव, ये सब जन्मे हुओं को दैवी सम्पत् कहलाती है। १। २। ३।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध. पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

अर्जुन, ढोंग, घमंड, अहंकार, क्रोध, कटुवादिता और अज्ञान ये जन्मे हुओं की आसुरी सम्पत् है। ४।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

अर्जुन, दैवी संपत् मोक्षकारी और आसुरी बन्धन-कारी होती है। तू शोक मत कर, क्योंकि तूने दैवी सम्पत् मे जन्म पाया है। ५।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

अर्जुन, इस लोक में दो वर्ग के प्राणी है, दैवी और आसुरी। दैवी वर्ग के गुण विस्तार सहित बताये जा चुके। अब आसुरी सुन। ६।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा.।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुरी सम्पत् वाले न तो यही जानते है कि क्या करना चाहिए; न यही कि क्या नहीं करना चाहिए। उनमें न पवित्रता होती है, न आचार, न सत्य। ७।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं कि यह जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ और अनीश्वर अपरस्पर (स्त्री-पुरुष के संयोग से) उत्पन्न है। यह मैथुन के हेतु हैं और किसी के हेतु नहीं। ८।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

इस दृष्टि से जकड़े हुए ये नष्टात्मा, अल्प बुद्धि जगत् का अहित करने के लिए उग्र कर्म करते हैं । ९ ।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

कठिन कामनाओ के आश्रित होकर, दंभ, मान और मद से ग्रस्त ये लोग मोहवश असत् को ग्रहण करके अपवित्र व्रत करते हैं । १० ।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

अपार और प्रलयान्त चिंताओं के आश्रित उन लोगों का यही निश्चित मत होता है कि कामोपभोग ही परम उद्देश्य है । ११ ।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

सैकड़ो आशा-पाशो में बंधे हुए, काम-क्रोध-परायण ये लोग काम-भोगो के लिए अन्याय से धन कमाने का प्रयत्न करते हैं । १२ ।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

आज मैंने यह प्राप्त किया, (कल) मैं इस मनोरथ को प्राप्त करूंगा । यह धन मेरा है, वह मेरा होगा । १३ ।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

यह शत्रु मैंने मार डाला, औरों को भी मारूंगा । मैं ईश्वर हूं, योगी, सिद्ध, बलवान और सुखी हूं । १४ ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मैं धनाढ्य और कुलीन हूं, मुझ-जैसा और कौन है ? मैं यज्ञ और

दान करूंगा, इन अज्ञानों से विमोहित । १५ ।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

मोह-जाल में फंसे हुए, अनेक बातों में भ्रमे हुए चित्त वाले काम-भोगों में आसक्त ये लोग घोर नरक में गिरते हैं । १६ ।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने को श्रेष्ठ मानने वाले, अनम्र, धन-मान-मद में मस्त ये लोग नाम-मात्र के लिए यज्ञ का ढोंग रचते हैं वह भी विधि-विरुद्ध । १७ ।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध से आश्रित अपनी और दूसरों की देह में स्थित मुझसे द्वेष करते और दूसरों की निन्दा करते हैं । १८ ।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

उन क्रूर और द्वेषी नराधम लोगों को मैं संसार में निरन्तर अशुभ और आसुरी योनियों में फेंकता रहता हूं । १९ ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

आसुरी योनि को प्राप्त ये लोग सब जन्मों में मूढ़ रहते हैं और मुझे न पाकर अधम गति ही पाते हैं । २० ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों आत्मा का नाश करने वाले नरक के द्वार हैं; इसलिए इन तीनों को छोड़ देना चाहिए । २१ ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

अर्जुन, मनुष्य इन तीनों तमोगुण के द्वारों से मुक्त होकर आत्म-श्रेय का आचरण करके उससे परमगति को प्राप्त होता है । २२ ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो शास्त्र-विधि को छोडकर काम से प्रेरित होकर आचरण करता है, उसेन सिद्धि मिलती है, न सुख और न परम गति । २३ ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिए कर्माकर्म का निर्णय करने के लिए शास्त्र को ही प्रमाण मान । शास्त्रोक्त विधान जानकर ही इस संसार में कर्म करना चाहिए । २४ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभाग-
योगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

: १७ :

श्रद्धात्रय विभाग-योग

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन बोलाः—कृष्ण, जो शास्त्रोक्त विधि को छोडकर श्रद्धा-पूर्वक आपको भजता है, उसकी निष्ठा कौन-सी है ? सात्विक, रजोगुणी या तमोगुणी ? । १ ।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक देवताओं का पूजन करते हैं, रजोगुणी यक्ष-राक्षसों का, तामसी लोग प्रेत और भूतों का पूजन करते हैं । ४ ।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

दंभ, अहंकार, काम, राग तथा बल से ग्रस्त जो लोग अशास्त्र विहित घोर तप तपते हैं । ५ ।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

जो अज्ञानी शरीरस्थ इन्द्रियों को तथा मुझ अंत शरीरस्थ को दुःख देते है, उनको निश्चय असुर जान । ६ ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

सबका प्रिय आहार भी तीन प्रकार का होता है, इसी तरह यज्ञ, तप और दान भी । उनका भेद सुनो । ७ ।

आयुःसत्त्वबलारोग्य सुख प्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रिया॥

आयु, उत्साह, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसीले, मीठे, पौष्टिक और हृदय को आनंद देनेवाले आहार सात्विकों को प्यारे होते हैं । ८ ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

कड़ु, खट्टे, नुनखरे, बहुत गरम, तीक्ष्ण, रूखे, दाहकारक तथा दुःख, शोक और रोग बढाने वाले भोजन रजोगुणियों को इष्ट होतेहैं।९ ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

ठंडे, रसहीन, गले, बासी तथा उच्छिष्ट और अपवित्र भोजन तमोगुणियो को प्यारे होते है । १० ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जो यज्ञ फलेच्छाहीन लोगो द्वारा शास्त्रोक्त रीति से मन में यह निश्चय करके किया जाता है कि यह कर्त्तव्य है वह सात्विक है । ११ ।

अभिसंधाय तु फल दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरत श्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

भरत श्रेष्ठ ! फलेच्छा से, ढोंग के लिए जो यज्ञ किया जाता है, उसे राजसी जानो । १२ ।

विधि हीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

विधिहीन, अन्न-दान रहित, मंत्र और दक्षिणा तथा विश्वास-रहित यज्ञ तामस कहलाता है । १३ ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, द्विज, गुरु और विद्वानों का पूजन करना, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीरिक तप कहते हैं । १४ ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

जिस बात में कोई उद्वेग न हो, जो सत्य, प्रिय और हितकर हो, ऐसी बात कहना और स्वाध्याय और अभ्यास यह वाचिक तप कहाते हैं । १५ ।

मनःप्रसादःसौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्म-निग्रह और भाव-शुद्धि ये मानसिक तप हैं । १६ ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

फलेच्छा रहित मनुष्यों द्वारा अति श्रद्धापूर्वक किये गए इन तीन प्रकार के तपों को सात्त्विक तप कहते हैं । १७ ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो तप, सत्कार, मान, पूजा के लिए ढोंग से किया जाता है, वह चंचल और अस्थिर तप राजसी कहाता है । १८ ।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप मूढ़ग्राह से अपने को या दूसरे को पीड़ा या हानि देने को किया जाता है, वह तामसी कहाता है । १९ ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

जो अनुपकारी को देना चाहिये, यह समझकर तथा देश, काल, पात्र

का विचार करके दिया जाता है, वह सात्विक है । २० ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान प्रत्युपकार के लिए, फल के उद्देश से, कष्ट से दिया जाता है, वह राजसी होता है । २१ ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान संस्कार रहित, अपमान-पूर्वक, आदेश काल तथा अपात्र को दिया जाता है, वह तामसी कहलाता है । २२ ।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताःपुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत् ये तीन प्रकार के ब्रह्म के नाम निश्चित हैं । इन्हीं से प्राचीन काल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ विहित है । २३ ।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसी से ब्रह्मवादी सदैव ॐ का उच्चारण करके शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप इत्यादि क्रियाएँ करते हैं । २४ ।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रिया. ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

इसलिए मोक्ष चाहने वाले फलाशा छोड़कर विविध प्रकार की यज्ञ, दान और तप क्रिया परमात्मा की ही यह सब कुछ है इस भाव से ब्रह्मार्पण-पूर्वक करते हैं । २५ ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

सत का प्रयोग अस्तित्व और अच्छेपन के लिए किया जाता है और अर्जुन, प्रशस्त कर्मों के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है । २६ ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

यज्ञ, दान और तप में स्थिति को भी सत् कहते हैं और इनके लिए किये गए कर्मों को भी सत् कहते हैं। २७ ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अर्जुन, श्रद्धारहित यज्ञ, दान, तप और कोई भी कर्म असत् कहलाता है। वह न इस लोक में न परलोक में फलदायक होता है। २८ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो
नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

: १८ :

मोक्ष संन्यास योग

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन ने कहाः—महाबाहो, हृषीकेश, केशिनिषूदन, संन्यास और त्याग का तत्त्व पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूं। १ ।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्री भगवान् ने कहाः—विचक्षण पुरुष काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं और सब कर्मों के फलों के त्याग को त्याग। २ ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

एक मनीषी कहता है कि कर्मों को दोषवत् मानकर छोड़ देना

चाहिए। दूसरा पक्ष कहता है कि यज्ञ, दान और तप इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। ३।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधःसंप्रकीर्तितः ॥४॥

भरतसत्तम, इस त्याग के विषय मे मेरा निश्चय मत सुन। पुरुष श्रेष्ठ, त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है। ४।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तप इन कर्मों को करना ही चाहिए; उनका त्याग नही करना चाहिए। यज्ञ, दान और तप कर्म बुद्धिमानो को पवित्र करते हैं। ५।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

पार्थ, मेरा यह निश्चित उत्तम मत है कि इन कर्मों को तो फला-सक्ति छोड़कर करना ही चाहिए। ६।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियत कर्मों का संन्यास करना उचित नहीं। मोहवश इन कर्मों को छोड देना तामस कहलाता है। ७।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागःसात्त्विको मतः ॥९॥

जो कोई किसी काम को दुःखमय मानकर काय-क्लेश के भय से छोड देता है, वह राजसी त्याग करके त्याग फल नहीं पाता। ९।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

त्यागी, सत्यशील, बुद्धिमान् और संशय-रहित कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता और अकुशल से द्वेष नहीं करता । १० ।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

देहधारियों में कोई भी सब कामों को सम्पूर्ण रूप से नहीं छोड़ सकता; जो कर्म-फल का त्याग करता है, वही त्यागी कहलाता है । ११ ।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्म-फल का त्याग न करने वालों को मरने पर कर्मों का इष्ट, मिश्र और अनिष्ट तीन प्रकार का फल मिलता है; संन्यासियों को नहीं ।१२।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

महाबाहो, सब कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य-शास्त्र में जो पांच कारण कहे गए हैं, वे मुझसे सुनो । १३ ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान (शरीर) कर्त्ता, करण और अलग-अलग इन्द्रियां, पृथक-पृथक विविध चेष्टा तथा पांचवां दैव । १४ ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य न्याय्य और अन्याय्य जो भी कर्म शरीर, वाणी और मन से शुरू करते हैं, इन सबके ये ही पांच हेतु होते हैं । १५ ।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

इनमें होते हुए जो केवल आत्मा को कर्त्ता समझता है, वह दुर्मति,

अकृत बुद्धि के कारण कुछ भी नही समझता। १६।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसमे अहंकृत भाव नहीं है, तथा जिसकी बुद्धि नहीं लिपती, वह इन लोकों को मारकर भी न मारता है, न उसके फल से बंधता है। १७।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीनो कर्मों के प्रेरक है। कारण, कर्म और कर्त्ता ये तीनो कर्म-समूह के प्रेरक हैं। १८।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी गुण-भेद से तीन प्रकार का है। सांख्य-शास्त्र मे जैसे यह कहा है, वैसे सुनो। १९।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

वह ज्ञान सात्विक है, जो सब विभक्त प्राणियो में अविभक्त भाव से एक ही अव्यय तत्त्व है। २०।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

जो ज्ञान से प्राणियों मे तरह-तरह के भावों को अलग-अलग जानता है, वह राजसी है। २१।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

वह तामस है, जो किसी एक ही देवता में अहैतुक आसक्ति रखकर तत्त्वहीन तथा अल्प भाव से उसे ही सब कुछ मानता है। २२।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

वह कर्म सताविक कहलाता है, जो नियत हो, तथा राग-द्वेष और आसक्ति तथा फलेच्छा छोडकर किया गया हो । २३ ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते वहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

वह कर्म राजस है, जो काम फलेच्छा से, अहंकार-पूर्वक वहुत प्रयत्नों से किया जावे । २४ ।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

परिणाम, हानि, हिंसा और अपने पौरुष की उपेक्षा करके मोहवश जो कर्म किया जाता है, वह तामस है । २५ ।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वित ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारःकर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

वह कर्त्ता सात्विक कहलाता है, जो आसक्ति मुक्त अनहंवादी, धीरज और उत्साहयुक्त तथा सिद्ध और असिद्ध मे निर्विकार रहता है । २६ ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचि ।
हर्षशोकान्वितःकर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

वह कर्त्ता राजस है, जो रागयुक्त, कर्म-फलेच्छु, लोभी, हिसात्मक, अपवित्र तथा हर्ष-शोक-युक्त है ।

अयुक्तःप्राकृतःस्तब्धःशठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अयुक्त, प्राकृत, उन्मत्त, शठ, द्रोही, आलसी, दुःखी तथा दीर्घ-सूत्री है । २८ ।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२६॥

अर्जुन, गुण-भेद से बुद्धि और धृति के तीन प्रकार अलग-अलग अशेष रूप से सुन। २६।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

वह बुद्धि सात्विकी है, जो यह जानती है कि कर्म-मार्ग, संन्यास-कर्त्तव्य, भय, अभय, बन्धन और मोक्ष क्या है ? । ३० ।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिःसा पार्थ राजसी ॥३१॥

जो बुद्धि यथार्थ के विरुद्ध, धर्म को अधर्म और कर्म को अकर्म जानती है, वह राजस है । ३१ ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

अज्ञान से ढकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म और सब अर्थों को अलग समझती है, वह तामसी है । ३२ ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिःसा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

अर्जुन, जिस धृति से मनुष्य अव्यभिचारी योग से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार करता है, वह सात्विक है । ३३ ।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

अर्जुन, जिस धृति से मनुष्य धर्म, काम और अर्थों में लगा रहता है, और उनके प्रसंग मे फलों की इच्छा रखता है, वह राजसी है । ३४ ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

अर्जुन, जिस धृति से दुर्बुद्धि, स्वप्न, डर, शोक, विषाद, मदादि नहीं छूटते, वह तामसी है । ३५ ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

भरत श्रेष्ठ, अब तीन तरह का वह सुख भी सुन, जिसके अभ्यास से आनंद आता है और दु खों का अंत होता है । ३६ ।

यत्तदग्रे विपमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

पहले विष-जैसा, परिणाम में अमृत-जैसा जो सुख आत्मा और बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न है, वह सात्विक कहलाता है ।

विपयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से आरम्भ मे अमृत-जैसा, परिणाम में विष-जैसा है, वह राजस कहाता है । ३८ ।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३६॥

जो सुख पहले भी, परिणाम मे भी आत्मा को मोहने वाला, निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न है, वह तामस कहलाता है । ३६ ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेपु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथिवी में, स्वर्ग में, देवताओं मे, अथवा फिर प्रकृति से उत्पन्न प्राणियों मे ऐसी कोई वस्तु नही है, जो इन तीन गुणों से अलग हो । ४० ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

परन्तप, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभावोत्पन्न गुणों के अनुसार अलग-अलग किये जाते हैं । ४१ ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता तथा ज्ञान-विज्ञान में आस्तिकता यह ब्राह्मणों का स्वाभाविक कर्म है । ४२ ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता और युद्ध में न भागना, दान तथा ईश्वर-भाव क्षत्रियों के स्वभावोत्पन्न कर्म है । ४३ ।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य ये वैश्यों के स्वभावज कर्म हैं, तथा परिचर्या के काम शूद्रों के स्वभावज कर्म है । ४४ !

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतःसिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

मनुष्य अपने-अपने कामों मे रत रहकर सिद्धि पाते है । स्वकर्म निरत रहकर जैसे सिद्धि पाते हैं, सो सुन । ४५ ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धं विन्दति मानवः ॥४६॥

जिससे सब प्राणियों में प्रवृत्ति पैदा होती है, जिससे ये सब व्याप्त हैं स्वकर्मों से उसकी पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है । ४६ ।

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

स्वधर्म विगुण भी हो, तब भी वह पर-धर्म का अनुष्ठान करने से कल्याणकारी है । स्वभाव नियत कर्म करते हुए किसी को पाप नहीं लगता । ४७ ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

अर्जुन, सहज कर्म सदोष हो, तब भी न छोडो; क्योंकि सब काम आरम्भ मे दोष से उसी तरह ढके रहते हैं, जैसे धुँए से आग । ४८ ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।४६॥

जितात्मा और सर्वत्र असक्त-बुद्धि निस्पृह पुरुष संन्यास से परम नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त होता है । ४६ ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

अर्जुन, यह सिद्धि पाकर मनुष्य ब्रह्म को कैसे पाता है, यह संक्षेप में मुझसे सुन । यही ज्ञान की परम सीमा है । ५० ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

शुद्ध-बुद्धि युक्त, धीरज से आत्म-संयम करके, शब्दादि विषयों को छोड़कर तथा राग-द्वेष को फेंककर । ५१ ।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

एकान्तवासी, स्वल्पभोजी, वाक्, काम और मन को जीते हुए, ध्यान–योग–परायण मनुष्य सदैव वैराग्य के आश्रित रहते हुए । ५२ ।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह को छोड़कर ममता रहित हो शांत रहता है, वह ब्रह्मरूप होने योग्य होता है । ५३ ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मरूप होकर वह प्रसन्न पुरुष न किसी का शोक करता है, न कुछ चाहता है । सब प्राणियों से समभाव रखकर मेरी परम भक्ति पाता है । ५४ ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

भक्ति से वह मुझे जानता है कि तत्त्व से मैं जो और जितना बड़ा हूं, यह जानता है। इस तरह मुझे तत्त्व से जान मुझी में समा जाता है। ५५।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

मेरा आश्रय लेकर, सब कामों को सदा करता हुआ भी मेरे प्रसाद से अव्यय शाश्वत पद पाता है। ५६।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मन से सब कर्मों का मुझमें संन्यास करके, मुझमे परायण हो, तथा बुद्धि-योग का आश्रय लेकर सदैव मुझमें चित्त लगा। ५७।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें चित्त लगाने पर मेरे प्रसाद से सब विघ्नों के पार जायगा। यदि अहंकारवश (मेरी बात) नहीं सुनेगा, तो नष्ट होगा। ५८।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

यदि तू अहंकार का आश्रय लेकर युद्ध नहीं करेगा, ऐसा मानेगा, तो तेरा यह निश्चय व्यर्थ होगा; क्योंकि तेरी प्रकृति तुझे (युद्ध में) जुटा देगी। ५९।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

कौन्तेय, तू अपने स्वभावज कर्म से बंधा हुआ है, यदि मोहवश उसे नहीं करना चाहेगा, तो भी विवश होकर करना पड़ेगा। ६०।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियों के हृद्देश में बैठा हुआ है। वही माया से यंत्रारूढ सब प्राणियों को घुमा रहा है। ७८।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

भारत, सर्व भाव से इसी की शरण में जा। इसी के प्रसाद से परम शान्ति और शाश्वत स्थान को पावेगा। ६२।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

मैंने तुझे यह गुह्य से गुह्य ज्ञान बताया। पूर्ण रूप से उस पर विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर। ६३।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

इन सबसे गुह्य मेरी परम बात फिर सुन। तू मेरा इष्ट व दृढ है, इसलिए तेरे भले के लिए इसे बताता हूं। ६४।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर, तो तू सत्य ही मुझमें ही आजायगा। तू मेरा प्यारा है, इसलिए तुझे मैं यह वचन देता हूं। ६५।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सब धर्मों को छोड़कर तू एक मेरी शरण में आजा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा। तू शोक मत कर। ६६।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

यह (ज्ञान) तू तपहीन, अभक्त, जो सुनना न चाहे तथा जो मुझसे द्वेष करे, उससे न कहना । ६७ ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो मेरे इस परम गुह्य ज्ञान को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझमें परम भक्ति करके निस्सन्देह ही मुझमें आ मिलेगा । ६८ ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

ऐसे मनुष्यों से अधिक प्रिय काम करने वाला मुझे और कोई न होगा, न इस पृथिवी में उनसे बढकर प्यारा मुझे कोई और होगा । ६९ ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

जो हमारे इस धर्म-संवाद का अध्ययन करेंगे, वे मेरे मत में ज्ञान-यज्ञ से मेरा इष्ट करेंगे । ७० ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।७१।

जो ईर्षा रहित, भक्ति रहित अंतःकरण से इस संवाद को सुनेंगे, वे भी मुक्त होकर पुण्य कर्मियों के शुभ लोकों को पावेंगे । ७१ ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोलाः—अच्युत, तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हुआ, मेरी स्मृति मुझे मिल गई, मैं संदेहहीन हूं; आपकी बात पूरी करूंगा । ७२ ।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

संजय ने कहाः—इस तरह मैंने वासुदेव और महात्मा अर्जुन का अद्भुत और रोमांचकारी संवाद सुना । ७४ ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

जब योगेश्वर कृष्ण स्वयं वह परम गुह्य योग कह रहे थे, तब मैंने व्यास जी की कृपा से इसे सुना । ७५ ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

राजन्, इस केशवार्जुन के अद्भुत पुण्य संवाद को याद करके मैं बार-बार हर्षित होता हूं । ७६ ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

राजन्, श्रीकृष्ण के उस अद्भुत रूप का स्मरण करके मुझे बड़ा विस्मय होता है और रह-रह कर आनंद आता है । ७७ ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

मेरे मत में जहां योगेश्वर कृष्ण हैं और जहां धनुर्धर पार्थ हैं वहीं लक्ष्मी, विजय और अचल ऐश्वर्य तथा ध्रुव नीति हैं । ७८ ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यास-
योगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥